अध्यात्म तरंगिणी

(योग-शास्त्र)

सोमदेवाचार्य

(गणधरकीर्ति विरचित संस्कृत टीका)

हिन्दी टीकाकार

पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य

प्रकाशक

अहिंसा-मन्दिर-प्रकाशन

१, दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक
राजकृष्ण जैन
अहिंसा-मन्दिर-प्रकाशन
१, दरियागंज, दिल्ली

प्रथमावृत्ति
मूल्य सजिल्द प्रति २)

मुद्रक—नया हिन्दुस्तान प्रेस, चाँदनी चौक, दिल्ली

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य सोमदेव बड़े उच्चकोटि के साहित्यिक विद्वान् और राजनीति के प्रकाण्ड पंडित थे। उनकी यह रचना संक्षिप्त और सुन्दर कृति है। ग्रन्थ का मूल भाग 'अध्यात्म तरंगिणी' के नाम से माणिकचन्द ग्रन्थ माला के तत्त्वानुशासनादि संग्रह में प्रकाशित हुआ है। परन्तु गणधरकीर्ति कृत संस्कृत टीका अभी तक प्रकाशित नहीं हुई थी। अनेकान्त के १२वें वर्ष की प्रथम किरण में पं० परमानन्द शास्त्री ने इसका परिचय दिया था और श्री मुख्तार जुगलकिशोर जी वीर-सेवा-मन्दिर की ओर से उसे प्रकाशित करना चाहते थे। पर वहाँ प्रकाशन में अत्यधिक विलम्ब होने से पूज्य मुख्तार साहब ने इसे मुझे प्रकाशित करने की प्रेरणा की और मैंने उसे सहर्ष प्रकाशित करना स्वीकार किया। परिणामस्वरूप यह ग्रंथ प्रकाश में आ रहा है।

ग्रन्थ का असली नाम योग-मार्ग जान पड़ता है, क्योंकि इसमें ध्यान और उनके भेदों की विस्तृत चर्चा की है। मुझे विश्वास है कि यह ग्रंथ मुमुक्षुओं के लिए बहुत उपयोगी होगा। ग्रन्थ का विषय परिचय हिन्दी टीकाकार तथा प्रस्तावना लेखक पं० परमानन्द जी ने दे दिया है।

मैं श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार का पुनः आभार मानता हूँ और आशा करता हूँ कि अन्य अप्रकाशित ग्रंथ भी अहिंसा-मन्दिर को प्रकाशित करने के लिए प्रदान करेंगे।

—राजकृष्ण जैन

विषय-सूची

अपनी बात

अपने जीवन के समस्त क्षण साहित्य-साधना में व्यतीत करने वाले श्री जुगलकिशोर जी मुख्त्यार से समस्त जैन समाज सुपरिचित है। वीर सेवा-मन्दिर देहली से 'स्तुति विद्या' प्रकाशित होने के बाद आपने मुझे आचार्य सोमदेव की अध्यात्मामृत-तरङ्गिणी का हिन्दी अनुवाद कर देने के लिए लिखा और मेरी स्वीकृति पहुँचने पर आपने एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति आचार्य गणधकीर्त्ति की संस्कृत टीका के साथ भेज दी। मूल श्लोक माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से एक संग्रह में प्रकाशित हुये थे उन्हें भी आपने भेजा। आपने लिखा था कि इसकी एक ही प्रति समस्त भन्डारों की छान-बीन करने पर मिली है। इस प्रति का लेखन काल १५३३ संवत् आसौज सुदी-२ था और वह हिसार पेरोजा में लिखी गई थी। लेखक संस्कृतज्ञ जान पड़ता था इसलिए अशुद्धियाँ प्रायः कम थी। फिर भी एक प्रति के आधार पर किसी ग्रन्थ का सम्पादन करने में जो कठिनाई उठानी पड़ती है उसका अनुभव मुझे पूरा हुआ। सही पाठ के चिन्तन में पर्याप्त श्रम करना पड़ा। इस प्रति का नाम मैंने 'क' रक्खा था। प्रति का पूरा परिचय लिख कर रख लिया था, पर यह लेख लिखते समय वह मिल नहीं सका, अतः संक्षिप्त नोट कापी से लेखन काल और लेखन स्थान ही लिखा जा सका।

समग्र ग्रन्थ की पाण्डुलिपि स्वयं तैयार की और उसके बाद हिन्दी अनुवाद में हाथ लगाया। मूलप्रति के पाठ इस संस्करण में सुरक्षित रक्खे गये हैं, जो अशुद्ध पाठ है उनके शुद्ध पाठ कोष्ठक में उनके साथ दिए हुये हैं। ग्रन्थ तैयार होने के बाद जब श्री मुख्त्यार जी के पास भेज दिया गया तब उन्हें श्री अतिशय क्षेत्र महावीर जी से इसकी एक प्रति और मिली जिसे उन्होंने हमारे पास भेजते हुये लिखा कि इस प्रति के

आधार पर यदि कुछ परिवर्तन करना हो तो कर लीजिये। इस प्रति में १२+५ साइज के ३२ पत्र है और प्रतिपत्र मे १६ पंक्तियाँ तथा प्रति पंक्ति में ४५-४७ अक्षर है। लिपि संवत् नही है। लेख सुवाच्य है। प्रथम पत्र नहीं है तथा द्वितीय पत्र भी जीर्ण हो चला है। इसका सांकेतिक नाम 'ख' रक्खा गया। 'त' प्रति की अपेक्षा पाठ प्राय: अशुद्ध ही थे इसलिये पुन. मिलान करने पर कोई खास परिवर्तन की आवश्यकता नही हुई। फिर भी यत्र तत्र उसके पाठो का सकलन कर लिया गया। इस तरह इस ग्रन्थ का सम्पादन हस्तलिखित और एक मुद्रित मूलप्रति के आधार पर हुआ है।

मूल रचना आचार्य सोमदेव की है आप बहुश्रुत विद्वान थे। समग्र विषयों पर आपका पूर्ण अधिकार था। 'यशस्तिलक चम्पू' और 'नीति वाक्यामृत' के दर्शन से आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का पता सहज ही चल जाता है। सोमदेव के इस मूल ग्रन्थ का नाम 'ध्यान विधि' है। इसमें ध्यान और उसके भेद तथा विधि आदिका स्पष्ट वर्णन किया गया है। श्री गणधरकीर्ति आचार्य ने इस पर 'अध्यात्मामृत तरङ्गिणी'[1] नाम की सस्कृत टीका लिखी। इस टीका का दूसरा सक्षिप्त नाम अध्यात्म तरङ्गिणी[1] है। इसी नाम से यह ग्रन्थ मुद्रित हुआ है परन्तु

१. तध्यात्माद्यर्थसवादाध्यात्मामृततरङ्गिणीम्।
सोमदेव ध्यानविधौ गणधरकीर्तिर्व्यधात्॥१५॥ टीका कर्तृप्रशस्ति,
गुणिगणधरकीर्तिः सोमसेनोपरोधा—
दकृत विकृति दोषाध्वान्त विध्वसकर्त्रीम्।
दिन मणि रुचिभावां भासितार्थां सुटीका।
श्रुतममृत-तरङ्गिण्याख्ययाध्यात्म पूर्वाम्॥६॥ टीका प्रारम्भिक श्लोक।
(श्री) सोमसेनप्रतिबोधनार्थं धर्माभिधानोच्च यश: स्थिरार्था.।
गूढार्थ संदेह हरा प्रशस्ता टीका कृताध्यात्मतरङ्गिणीयम्॥२॥
टीका कर्तृ प्रशस्ति।

तरङ्गिणी शब्द की सार्थकता अध्यात्मामृत-तरङ्गिणी नाम से ही सिद्ध होती है। इसलिए मुखपृष्ठ पर इसका 'अध्यात्मामृत तरङ्गिणी' नाम अंकित किया गया है।

मूल ग्रन्थ की भाषा पाण्डित्य पूर्ण है और उस पर टीकाकार श्री गणधर-कीर्ति ने भी सोमसेन के सम्बोधनार्थ पाण्डित्य पूर्ण भाषा में ही अध्यात्मामृत तरङ्गिणी नाम की टीका लिखी है। प्रत्येक श्लोकों के प्रारम्भ में उपोद्घात के रूप मे टीकाकार ने जो गद्य लिखी है उसमें उन के भाषा विषयक वैदुष्य का स्पष्ट पता चलता है। टीका में खण्डान्वय की पद्धति अपनाई गई है और श्लोक गत समस्त पदों की व्याख्या के बाद स्पष्टीकरण के रूप मे कुछ पक्तियाँ लिखी हैं। कितने ही श्लोकों की टीका में प्रसङ्गोपात्त केवलिकवलाहार, स्त्री-मुक्ति तथा चार्वाक् दर्शन आदि विषयों की भी अच्छी चर्चा की है। अन्त मे प्रशस्ति के रूप में टीका-कार ने अपनी गुरु परम्परा भी दी है। उन्होंने लिखा है कि गुर्जर देश में 'वरवट वटपल्ली' नाम की नगरी थी उसमें 'सागर नन्दी' नाम के गुरु थे। उनके 'स्वर्णनन्दी' नामक शिष्य हुए, उनके 'पद्मनन्दी', पद्मनन्दी के पुष्पदन्त और पुष्पदन्त के 'कुवलय चन्द्र' शिष्य हुए। कुवलय चन्द्र के 'गणधर कीर्ति' हुए। इन्हीं गणधर कीर्ति ने सम्वत् ११८९ के चैत्र-शुक्ला पञ्चमी रविवार के दिन इस टीका की रचना की है। उन्होने यह टीका जयसिंह देव के राज्य में रची थी।

संस्कृत टीकाकार ने कितने ही दार्शनिक विषयों का विवेचन करते समय आचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेय-कमल-मार्तण्ड से सामग्री ली है यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

यह हिन्दी टीका संस्कृत टीका का अविकल अनुवाद नहीं है क्योंकि खन्डान्वयी टीका के अनुसार अनुवाद करने पर हिन्दी का आधुनिक रूप सुरक्षित रख सकना सम्भव नहीं था। अतः टीका का भाव लेकर हिन्दी टीका लिखी गई। इसमें प्रारम्भ में श्लोक का अर्थ दिया गया है और उसके बाद विशेषार्थ के रूप में संस्कृत टीका के आधार पर विवेचन

किया गया है। कितने ही दार्शनिक विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए प्रश्न उत्तर की पद्धति भी अपनाई गई है।

यह हिन्दी अनुवाद २४७६ वीर निर्वाण सम्वत् में तैयार हो चुका था तब से श्री मुख्त्यार जी के पास पड़ा-पड़ा अब उनकी सम्मति से 'अहिंसा मन्दिर' देहली से प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थ में स्वाध्याय की बहुत सामग्री निहित है इसलिए स्वाध्याय प्रेमी इससे लाभ उठावे यह आकांक्षा है।

साहित्य-सेवा का मुझे व्यसन है अतः नियमित दिनचर्या के भीतर मुझे जो कुछ भी थोडा बहुत समय मिलता है उसका उपयोग मै इसी साधना में करता हूँ और उसी का फल है कि दस पाच ग्रन्थ मैं तैयार कर सका हूँ। बुद्धि पूर्वक प्रयत्न तो यही करता हूँ कि मेरे द्वारा जिनवाणी की उपासना में प्रमाद न हो और कोई त्रुटि ऐसी न रह जाए जो विपरीत अर्थ को आश्रय देने वाली हो। फिर त्रुटियो का रह जाना सब तरह सम्भव है अत. विद्वज्जन उन त्रुटियो को सुधारते हुए मुझे क्षमा प्रदान करे, यह प्रार्थना है। श्री जुगलकिशोर जी मुख्त्यार की प्रेरणा और श्री राजकृष्ण जी के औदार्य से यह ग्रन्थ जिज्ञासुओ के सामने आ रहा है इसलिए दोनो महानुभावों का आभारी हूँ। प० परमानन्द जी शास्त्री हमारे सहपाठी और मित्र है। हमारे प्रत्येक साहित्यिक कार्य में हमें उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहता है अतः उनके सहयोग को मैं कभी भूल नहीं सकता।

सागर
२५ नवम्बर १९६० ई०

विनीत
पन्नालाल जैन

प्रस्तावना

ग्रन्थनाम

इस ग्रंथ का नाम 'अध्यात्म तंरगिणी' छपा है और माणिकचन्द ग्रंथमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित 'तत्त्वानुशासनादिसंग्रह में भी इसका नाम 'अध्यात्मतरगिणी' ही मुद्रित हुआ है[1]। परन्तु मूल ग्रन्थकर्ता ने कहीं भी इसका नाम अध्यात्मतरंगिणी प्रकट नहीं किया। और संस्कृत टीकाकार गणधर कीर्ति ने भी मूल ग्रन्थ का उक्त नाम नहीं बतलाया किन्तु अपनी टीका का नाम अध्यात्मतरंगिणी या अध्यात्मामृत तरंगिणी अवश्य प्रकट किया है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

"दिन मणि रुचिभावा भासितार्था सुटीका ।
श्रुतममृततरङ्गिण्याख्याध्यात्म पूर्वाम् ॥"

ऐसी स्थिति में ग्रंथ का नाम अध्यात्मतरङ्गिणी कैसे कहा जा सकता है। तब यह प्रश्न स्वभावत. उत्पन्न होता है कि मूल ग्रन्थ का नाम क्या है? श्री प० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने जैन साहित्य और इतिहास के पृष्ठ १७८ की टिप्पणी मे इसका दूसरा नाम 'योगमार्ग' बतलाया है[2] और यह सम्भावना भी की है कि 'अध्यात्मतरङ्गिणी या योगमार्ग 'षण्णवति प्रकरण' का ही एक भाग होगा। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ को योगमार्ग भी कहा जाता था। जब हम मूल ग्रंथ के प्रथम पद्य का विचार करते है जिसमें आदिनाथ तीर्थंकर की योग-मुद्रा का स्वरूप अंकित किया गया है, संस्कृत टीकाकार की प्रथम

---

१. इति सोमदेवाचार्य प्रणीताऽध्ययात्म तरंगिणी समाप्त।

१. इसका दूसरा नाम योग मार्ग भी है, जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १७८।

श्लोक की उत्थानिका वाक्य मे भी—'आदि देव इत्थं योग-मुद्रामुन्मुद्रितवानित्याह' योगी की योग-मुद्रा का विवेचन करना स्पष्ट है। और उस योगी से अनन्त चतुष्टय रूप सम्प्रदाओं के प्रदान करने की कामना की गई है। तथा आगे ग्रथ मे उसी योग-मुद्रा और योगमार्ग का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। इससे मूल ग्रंथ का नाम 'योगमार्ग' सार्थक जान पड़ता है और टीका का नाम अध्यात्मतरङ्गिणी मालूम होता है टीका के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम अध्यात्म तरगिणी हुआ है।

ग्रन्थ परिचय

यह संस्कृत भाषा का छोटा सा ग्रंथ है जिसकी श्लोक संख्या चालीस है। इन पद्यो में योगी आदिनाथ की योग-मुद्रा का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए आत्म-विकास के कारणभूत आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का सक्षिप्त एवं सरस वर्णन किया है, जो प्रमेय बहुल है। उस योगमार्ग का जीवन मे अनुष्ठान करने से आत्मा परमात्मा हो जाता है।

ग्रन्थ में भगवान आदिनाथ को, नीलांजना नामक अप्सरा के नृत्य करते समय एकाएक उसकी आयु पूरी हो जाने के कारण संसार-देहभोगों से वैराग्य हो गया, और उन्होने जैन योग-मुद्रा धारण कर तपश्चरण का अनुष्ठान किया। ग्रन्थकार ने उनकी उस समय की योग-मुद्रा का स्वरूप अंकित करने का प्रयत्न किया है। आदि-ब्रह्मा या आदीश्वर ध्यानस्थ हैं, कायोत्सर्ग आसन से युक्त हैं, नासाग्रदृष्टि है, जिनकी दोनो भुजाएँ नीचे को लटक रही है और जिनके दोनों नेत्र कमल निमेष रहित-निश्चल हैं। श्वास को जिन्होंने जीत लिया है और जिन्होंने कुनीति-रूपी सरिता को सुखा दिया है, जो देह-भोगों से अत्यन्त उदासीन है, समाधि में विलीन हैं और शत्रु-मित्र मे समभाव को लिए हुए है, ऐसे ये योगी रमणीय आत्मीय अद्भुत रस में निमग्न हैं। उनकी वह योगमुद्रा अत्यन्त

सौम्य, गंभीर और दर्शकों के लिए आनन्द-विभोर करती हुई उनमें योगानुष्ठान द्वारा जिन, परमात्मा या परमेष्ठी बनने की क्षमता को ही उद्घोषित नहीं करती; प्रत्युत उसकी महत्ता एवं प्रभाव को भी हृदय-पटल पर अंकित करती है।

योग-मुद्रा में स्थित योगी सांसारिक व्यापारों से अत्यन्त दूर और शारीरिक क्रियाओं से भी निस्पृह एवं निश्चेष्ट रहता है। वह उस समय में आत्म-लोक में विचरण करता है। उसका उपयोग आत्म-स्वरूप में निष्ठ होने के कारण बाह्य जगत के विकल्पों से शून्य निजानन्द-रस में तन्मय रहता है। और अपने को अबद्ध स्पष्टादि विशेषणों से युक्त एक अखंड अविनाशी अद्वितीय चैतन्यभाव का अनुभव करता है।

टीका

इस ग्रंथ पर एक ही संस्कृत टीका उपलब्ध है, जो इस संस्करण में दी गई है। जिसके कर्ता मुनिगणधरकीर्ति हैं। टीका में पद्यगत वाक्यों एवं शब्दों के सामान्य अर्थ के साथ-साथ कहीं-कहीं उसके विषय को भी स्पष्ट किया गया है। विषय को स्पष्ट करते हुए कहीं-कहीं प्रमाण रूप में समन्तभद्र, अकलंक और विद्यानन्दादि आचार्यों के नामों तथा ग्रंथों का उल्लेख किया गया है। टीका अपने विषय की स्पष्ट विवेचक है। टीकाकार ने विषय को हृदयंगम कराने के लिए देवनन्दी की 'सर्वार्थ सिद्धि' का पर्याप्त आश्रय कर सुन्दर विवेचन किया है। १९ वें पद्य की टीका करते हुए टीकाकार ने 'पृथक्त्व-वितर्क-वीचार' नाम का पहला शुक्लध्यान चतुर्थकालादि की अपेक्षा अन्य जीवों के भी हो सकता है। इसका कथन करते हुए लिखा है कि—'पूर्वापर विदेह में उत्पन्न विशुद्ध लेश्या के धारक, कीलित-संहननवाले मनुष्य के भी कदाचित् प्रथम शुक्ल ध्यान संभव हो सकता है।' इस तरह टीका जहां स्पष्ट और परिपूर्ण है, वहाँ गूढ़ अर्थ और सन्देह को दूर करने वाली है।

इस टीका की तीन प्रतियाँ इस समय उपलब्ध हैं एक ऐलक पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन झालरापाटन में और दूसरी प्रति अजमेर के भ० हर्षकीर्ति के बडे मदिर के शास्त्र-भंडार में श्री मुखतार साहब को प्राप्त हुई थी और तीसरी प्रति पाटन के श्वेताम्बरीय शास्त्र भंडार में है। परतु वहा वह प्रति कुछ खडित रूप में पाई जाती है। उसकी आदि अन्त प्रशस्ति भी खडित है। अन्वेषण करने पर अन्य ग्रन्थ भडारो में भी इसकी प्रतियां मिल सकती हैं। किन्तु झालरापाटन की प्रति वि० स० १५३३ आश्विन शुक्ला दोयज के दिन हिसार में (पेरोज पत्तन में) लिखी गई है। जिसे सुनामपुर के वासी, खडेलवाल वंशी, संघाधिपति श्रावक 'कल्हू' के चार पुत्रो मे से प्रथम पुत्र धीरा की पत्नी धनश्री के के द्वारा, जो श्रावकधर्म का अनुष्ठान करती थी, अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ लिखाकर तात्कालिक भट्टारक जिनचन्द्र के अन्यतम शिष्य पं० मेधावी को सवत् १५३३ में प्रदान की गई है।[1] इससे यह प्रति ५०० वर्ष के लगभग पुरानी है यह प्रति हिसार में उक्त सवत् मे कुतुब खाँ (कद्दन खा) के राज्य-काल में लिखी गई है।

मूल ग्रन्थकार

आचार्य सोमदेव देवसघ के विद्वान थे। देवसघ लोक मे प्रसिद्ध है। इस संघ मे अनेक विद्वान हो गए है। भट्ट अकलंक देव भी इसी सघ के मान्य विद्वान थे। यशोदेव और नेमिदेव और महेन्द्रदेव आदि देवान्तनाम

---

१. सं० १५३३ वर्षे आसोज सुदि २ दिने हिसार पेरोजपत्तने लिखित मिति।

श्रियं क्रिययान्नरामर्त्य नाग पार्श्व पदाम्बुज.।
देवोध्यात्म तरगिण्या, शास्त्रदातु जिनोऽनघां ॥१॥
भयस्त्रिंशाधिके वर्षे शत पच दश प्रमो।
शुक्ल पक्षेऽश्वने माने द्वितीयां सुवासरे ॥२॥

इसी देवसंघ के द्योतक हैं। आचार्य सोमदेव ने स्वयं यशस्तिलकचम्पू के निम्नपद्य में अपने गुरू नेमिदेव को देवसंघ का तिलक और सद्‌गुणनिधि बतलाते हुए उन्हें ६३ वादियों का जीतने वाला प्रकट किया है—

श्रीमानस्ति देवसंघ तिलको देवो यशः पूर्वकः।
शिष्यस्तस्य बभूव सद्‌गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः।
तस्याश्चर्य तपः स्थिते स्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां।
शिष्यो भूदिह सोमदेव यतिपस्तस्येव काव्यक्रमः॥

किन्तु नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में उन्हें ५५ वादियों को जीतने वाला प्रकट किया है।[1] इससे यह सुनिश्चित है कि उस समय तक नेमिदेव ने ५५ वादियो को बाद में जीता था। और यशस्तिलक के समय तक उन्होंने ६३ वादियो को को जीत लिया था। इससे नीतिवाक्यामृतकी रचना पहले हुई जान पड़ती है। इससे वे उस समय के विशिष्ट तार्किक विद्वान जान पड़ते हैं। परभणी के दानपत्र में नेमिदेव को की 'स्याद्वाद रत्नाकर पारदृष्टा और पर वादियों के दर्प रूपी द्रुगावली को छेदने के लिए 'कुठार नेमि' प्रकट किया है।[2] वे परम तपस्वी और प्रसिद्ध वक्ता थे। आपके गुरू यशोदेव भी उच्चकोटि के विद्वान और यशस्वी साधु थे। आचार्य सोमदेव इन्ही नेमिदेव के शिष्य थे तथा वादीन्द्र कालानल श्री महेन्द्रदेव भट्टारक के अनुज थे। स्याद्वादाचलसिंह, तार्किकचक्रवर्ती, वादीभ-पंचानन, वाक्कलोल पयोनिधि और कविकुलराज आदि आपकी उपाधियाँ

१. सकल तार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य पंच पंचाशन्महावादि विजयोपार्जित कीर्तिमन्दाकिनी पबित्रित त्रिभुवनस्य, परम तपश्चरण-रत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेव भगवतः' । नीति वाक्यामृत प्रशस्ति

—नीति वाक्यामृतप्रशस्ति

२. शिष्यो भवत्तस्य महर्द्धिभाजः स्याद्वादरत्नाकरपारदृश्वा।
श्रीनेमिदेवः परिवादिदर्पी द्रुभावलिच्छेद कुठार नेमिः ॥१६॥

—परभणी ताम्रपत्र

थीं। आपका संस्कृत भाषा पर विशेष अधिकार था। न्याय, व्याकरण, काव्य, छन्द, धर्म, आचार और राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित थे। महाकवि, धर्मशास्त्रज्ञ और प्रसिद्ध दार्शनिक थे।

दानपत्र में आचार्य सोमदेव को 'गौड संघ' का विद्वान सूचित किया है।[1] हो सकता है कि गौडसंघ देवसंघ की ही एक शाखा हो अथवा वह एक स्वतंत्र संघ के रूप में अपना अस्तित्व रखता हो। अनेक सघ और गण-गच्छो का निर्माण लोक में ग्रामादिक के नामों से हुआ है। आचार्य सोमदेव केवल काव्य मर्मज्ञ ही न थे, किन्तु भारतीय काव्य-ग्रंथों के विशिष्ट अध्येता भी थे। और थे राजनीति के कुशल आचार्य, 'यशस्तिलक चम्पू' में आपकी नैसर्गिक एवं निखरी हुई काव्यप्रतिभा का पद-पद पर अनुभव होता है, वे महाकवि थे और काव्य-कला पर पूरा अधिकार रखते थे। यशस्तिलक में जहां उनकी काव्य-कला का निदर्शन होता है वहां तीसरे अध्याय में राजनीति का, और ग्रन्थ के अन्त में धर्माचार्य एव दार्शनिक होने का परिचय मिलता है। नीतिवाक्यामृत तो शुद्ध राजनीति का ग्रन्थ है ही, यह ग्रन्थ चाणक्य के अर्थशास्त्र और कामन्दक के नीति शास्त्र के बाद अपनी सानी नही रखता। उसकी महत्ता का मूल्याकन वे ही कर सकते है जो राजनीति के चतुर पण्डित हैं। उन्होने यशस्तिलक चम्पू की उत्थानिका में स्वयं लिखा है कि—'मेरी बुद्धि रूपी गौ ने जीवन भर तर्क रूपी सूखी घास खाई है, परन्तु उसी गौ से सज्जनों के पुण्य के कारण यह काव्यरूपी दूध उत्पन्न हो रहा है।[2]

---

१. श्री गौडसघे मुनि मान्यकीर्तिर्नाम्ना यशोदेव इति प्रजज्ञे।
बभूव यस्योग्र तप: प्रभावात्समागम: शासन देवताभि: ॥१५॥
—परभणी ताम्रपात्र

२. आजन्म कृतदभ्यासाच्छुष्कात्तर्का तृणादिव ममास्या:।
मतिसुरभेरवदिदं सूक्ति-पय: सुकृतिनां पुण्यै: ॥

कवि ने अपने व्यवहार के सम्बन्ध में स्वय निम्न सूचना दी है—मैं छोटों के साथ अनुग्रह, बराबरी वालों के साथ सुजनता और बड़ों के साथ महान् आदर का वर्ताव करता हूँ। इस विषय में मेरा चरित बहुत ही उदार हैं; किन्तु जो मुझे ऐंठ दिखलाता है उसके लिए गर्व रूपी पर्बत को विध्वंश करने वाले मेरे वज्र-वचन कालस्वरूप हो जाते हैं*। वे अहंकारी पडित रूप गजों के लिए सिंह के समान ललकारनेवाले, वादि-गजों को दलित करने वाले और दुर्धर विवाद करने वाले श्री सोमदेव मुनि के सामने वाद के समय वागीश्वर या देवगुरु वृहस्पति भी नहीं ठहर सकते[1]।

सोमदेव यद्यपि नग्न मुनि थे, ध्यानाध्ययन तथा तपश्चरण में सुदृढ़ थे। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे उस समय मठवास को पसन्द करने लगे थे; क्योंकि दानपत्र में उनका पूजोपहार आदि का दान लेने का उल्लेख पाया जाता है। उस समय चैत्यवास या मठवास की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही थी। यद्यपि मुनि चर्या में तब तक कोई खास अन्तर नही आया था, किन्तु साधु जन वनवास छोडकर नगर के समीप बसने लगे थे। आचार्य गुणभद्र ने तो ग्राम के समीप बसने वाले तपस्वियों की प्रवृत्ति पर अपना खेद व्यक्त किया है[2]।

* अल्पेऽनुग्रह धी. समे सुजनता मान्ये महानादर.,
सिद्धान्तोऽयमुदात्त चित्र चरिते श्री सोमदेवे मयि।
य. स्पर्धेन तथापि दर्पदृढता प्रौढ़ि प्रगाढाग्रह–
स्तस्या रखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते ॥–यश०

१. दर्पान्धिबोधबुधसिन्धुर सिंहनादे, वादिद्विपोद्दलन दुर्धरवाग्विवादे।
श्री सोमदेव मुनिपे वचना रसाले, वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले। —यश०

२. इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथामृगाः।
वनाद्विषन्त्युपग्रामं, कलौ कष्टं तपस्विनः॥ आत्मानुशा ०१९७

अन्य कृतियाँ

यशस्तिलक-चम्पू एक गद्य-पद्य मय चम्पू काव्य है, उसमें जहाँ संस्कृत भाषा के दुर्लभ एवं महत्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया गया है वहाँ वह विलक्षण सूक्तियों और सुभाषित रत्नो का भी एक कोष है। उसकी मनोहर सूक्तियाँ कविजनों के आनद और विस्मय का कारण बनी हुई हैं, ग्रथ मे राजा यशोधर और चन्द्रमती का जीवन परिचय बडी खूबी के साथ अकित किया है उसे पढकर और मनन कर हृदय हिंसा से पराङ्मुख हो जाता है और वह अहिंसा की सरस धारा मे अवगाहन करने लगता है।

सोमदेव ने अपना यशस्तिलक चम्पू उस समय समाप्त किया था जब शक सवत् ८८१ (वि० श० १०१६) में सिद्धार्थ सवत्सरान्तर्गत चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन श्री कृष्णदेव (तृतीय) जो राष्ट्रकूटवश के राजा अमोघ वर्ष के तृतीय पुत्र थे, जिनका दूसरा नाम 'अकाल वर्ष' था, और जो उस समय पाण्ड्य, सिंहल, चोल और चेर आदि राजाओ को जीतकर मेल्पाटी[1] (मेलाडी नामक गाव) के सेना शिविर में विद्यमान थे। उस समय उनके चरण कमलोपजीवी सामन्त वद्यग की, जो चालुक्यवंशीय राजा अरिकेसरी के प्रथम पुत्र थे—गगधारा नगरी में उक्त ग्रथ समाप्त हुआ था[2]।

शक संवत् ८८८ (वि० सं० १०२३) के अरिकेसरी वाले दानपत्र से, जो उनके पिता वद्यग देव द्वारा लेंबुल पाटक राजधानी मे बनवाए हुए शुभधाम जिनालय की मरम्मत, चूने की कलई करने और पूजोपहार चढाने के लिए सब्विदेश सहस्त्रान्तर्गत रेपाक द्वादशो मे वनिकुटुपुल नाम

---

१. मेलपाटी नाम का गांव जो उत्तर अर्काट जिले के वांदिवाशतालुके में है। शक स० ८८० के करहाड़ ताम्रपत्र से भी राष्ट्रकूट राजाकृष्ण तृतीय का सेना शिविर वहां था यह ज्ञात होता है।

२. देखो, यशस्तिलक चम्पू की अन्तिम प्रशस्ति।

का गांव आचार्य सोमदेव को दिया गया था। उससे स्पष्ट है कि यश स्तिलक-चम्पू की रचना इस ताम्रपत्र से सात वर्ष पूर्व हुई थी।[1]

नीति वाक्यामृत राजनीति का अपूर्व ग्रंथ है, यह उस काल में उपलब्ध राजनैतिक ग्रंथों के दोहन से समुत्पन्न नवनीत के समान अमूल्य रचना है। इस ग्रंथ में चाणक्य, वृहस्पति, शुक्र और भारद्वाज जैसे विद्वानो के वाक्यों का भी सग्रह किया गया है। फिर भी उसमें अपूर्वता के दर्शन होते है। सस्कृत के टीकाकार के अनुसार कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल देव (द्वितीय) ने चाणक्य के अर्थशास्त्र की दुर्बोधता से खिन्न होकर सोमदेवाचार्य से सुन्दर, सुबोध और लघुनीति वाक्यामृत की रचना कराई होगी। श्रद्धेय प्रेमी जी के जैन साहित्य और इतिहास के अनुसार यह महेन्द्रपाल द्वितीय वे ही ज्ञात होते हे जिनके दो शिलालेख वि० स० १००३ और १००५ के उपलब्ध होते है।[2]

इन तीनो ग्रथों के अतिरिक्त निम्न रचनाओं के उल्लेख और भी मिलते है—स्याद्वादोपनिपत्, पण्णवती प्रकरण, युक्तिचिन्तामणिस्तव, त्रिवर्ग-महेन्द्रमातलि-सजल्प और अनेक सुभाषित। परन्तु खेद है कि उनकी ये महत्वपूर्ण कृतियाँ अभी अनुपलब्ध ही हैं। जिनकी खोज करना जरूरी है।

टीकाकार

अध्यात्म-तरगिणी नामक टीका ग्रथ के कर्ता मुनि गणधर कीर्ति हैं, जो गुजरात देश के निवासी थे। यह टीका उन्होने गूढ अर्थ और सदेह को दूर करने वाली किन्ही सोमदेव नाम के सज्जन के अनुरोध से उन्हीं

---

१ देखो, परभणी का ताम्रपत्र, एपिग्राफिआइंडिका जिल्द ४ पृ० २७८

२ देखो, नीतिवाक्यामृत की आद्य प्रशस्ति और जैन साहित्य और इतिहास द्वितीय सं० पृ १८२

के सम्बोधनार्थ बनाई गई थी। टीका की अंतिम प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार दी है—सागरनन्दी, स्वर्णनन्दी, पद्मनन्दी पुष्पदन्त, कुवलयचन्द्र और गणधरकीर्ति।

टीकाकार ने अपनी यह टीका वि० सं० ११८९ में चैत्र शुक्ला पंचमी रविवार के दिन गुजरात के चालुक्य-वंशी राजा जयसिंह या सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में बनाकर समाप्त की है जैसा कि प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है—

> एकादश शताकीर्णे नवासीत्युत्तरे परे।
> संवत्सरे शुभे योगे पुष्यनक्षत्र संज्ञके ॥१७
> चैत्रमासे सिते पक्षेऽथ पंचम्यां रवौ दिने।
> सिद्धा सिद्धि प्रदा टीका गणधरत्कीर्तिविपश्चितः ॥१८॥
> निस्त्रशतर्जितारातिं विजयश्री विराजनि।
> जयसिंह देव सौराज्ये सज्जनानन्द दायनि ॥१९॥

जयसिंह सोलंकी राजाओं में बड़ा प्रतापी हुआ है, उसका विरुद 'सिद्धराज' था। यह जिस समय सोमनाथ की यात्रा को गया था, मालवे के परमार राजा नरवर्मा ने गुजरात पर आक्रमण कर दिया था। जयसिंह उससे १२ वर्ष तक लडता रहा, उस युद्ध में नरवर्मा की मृत्यु हुई और उसका पुत्र यशोवर्मा राजा हुआ। वह हार गया और बंदी हो गया। जयसिंह ने उसके प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। जयसिंह के के कोई सन्तान न थी, अतएव त्रिभुवनपाल के पुत्र कुमारपाल को गद्दी का अधिकार मिला। जयसिंह देव का राज्य संवत् ११५० से ११९९ अर्थात् सन् १०९३ से ११४२ ई० तक वहां रहा है, इसकी राजधानी अनहिलवाडा थी। गणधर-कीर्ति ने इसके राज्यकाल में ही अपनी उस टीका को पूरा किया है।

इस ग्रन्थ का सम्पादन और हिन्दी अनुवाद पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवन झालरापाटन

की प्रति से किया है। अन्य प्रतियां प्राप्त नहीं हो सकीं। अनुवाद मूल पद्यों का किया गया है साथ ही टीका में चर्चित विषय को विशेषार्थ द्वारा सरल हिन्दी भाषा में दिया गया है जिससे पाठकों को विषय समझने में असुविधा न हो, अनुवाद की भाषा सरल हिन्दी है, हिन्दी अनुवाद कैसा हुआ, इसका निर्णय पाठक स्वयं करेंगे।

१० नवम्बर १९६०

परमानन्द जैन शास्त्री

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

सोमदेवसूरिविरचिता

अध्यात्म तरङ्गिणी

(गणधरकीर्ति कृत संस्कृत टीका और हिन्दी टीका सहित)

शुद्धध्यानकृशानुधूमनिवहः श्वासैर्भृशं कुञ्चितो
मौलौ नीलविलोलमूर्द्धजजटाव्याजेन येषां बभौ ।
ज्ञानानन्ददृगात्मकामरकतस्वर्णेन्दुसद्विद्रुमा-
नीलाम्भोदनिभा भवन्तु सुजिनास्ते स्वात्मलम्भाय नः ॥१॥

विचित्रोरुदेहद्युतिद्योतिताशा नरेन्द्रोद्धकोटीर रत्नप्रभाभा-
रभूयिष्ठपाद्यः प्रधौतांघ्रियुग्मा जिनाः सन्ददन्तां फलं वाञ्छितं नः ॥२॥

अकूपारसासीमविज्ञानदेहा-शरीराः परानन्तवीर्यावगाहा-
तिसूक्ष्मामलानन्तसौख्या विबाधाः प्रसिद्धाः सुसिद्धाः प्रयच्छन्तु शं नः ।३।

मनोज्ञार्थचिन्तामणिश्रीनिवासं पवित्रं चरित्रं समं ये दृगाद्यम् ।
स्वयं संचरन्तेऽन्यमाचारयन्ते भवन्त्विष्टदाः सूरयः सर्वदा नः ॥४॥

अनेकान्ततत्त्वाम्बुजोल्लाससूर्याः सर्वैकान्तमिथ्यातमोध्वंसवर्याः ।
पराध्यापकाः पाठकान् पाठयन्तः प्रबोधं दधन्तां शुभं शाश्वतं नः ॥५॥

त्रिदण्डप्रमुक्ताः सुयोगोपयुक्ताः प्रमादोज्झिताः सिद्धशुद्धोपयोगाः ।
सुशृङ्गारयोनीनसु[1]र्भानुभावाः सदा साधवः सन्तु ते सिद्धिदा नः ॥६॥

अघौघसंघट्टितविघ्नसङ्घ विघातका मारमहेभसिंहाः ।
भवन्तु पञ्चापि जिनेश्वराद्याः सुशाश्वतं वैबुधसम्प्रदायै ॥७॥

सल्लक्षणोज्ज्वलतनुर्वरतर्कबाहुः स्याद्वादपीवरपयोधरभागभुग्ना ।
मुक्तात्मवृत्तसदलंकृतिहारभूषा वाग्देवता मम तनोतु मनीषितानि ॥८॥

---

१. 'अयं पाठश्चिन्त्यः, सुशृङ्गारयोनीनस्वर्भानुभावाः' इति शुद्ध पाठः किन्तु तत्रापि संयुक्ताद्यस्य गुरुत्वेन छन्दोभङ्गो भवति ।

गुणिगणधरकीर्तिः सोमसेनोपरोधादकृत निकृतिदोषाध्वांतविध्वंसकर्त्रीम् ।
विनमणिरुचिभावां भासितार्थां सुटीकां
श्रुतममृततरङ्गिण्याख्ययाध्यात्मपूर्वाम् ॥९॥
कुन्देन्दुकान्तिहरहासविलासशुभ्रं
कान्तं यशः प्रतिविधातुमनल्पकल्पम् ।
कत्रैः स्वरैरवितथार्थविचारसारा
साक्षान्मया विरचिता शिवसौख्यदेयम् ॥१०॥
मात्सर्यमुत्सृज्य विचार्य चार्व्या सतस्वसन्देशनजं गुणौघम् ।
ग्राह्याः गुणज्ञैर्गुणकक्षदक्षैः सन्मोक्षमार्गाधिगमाय टीका ॥११॥
जिनं प्रणम्य प्रणतं सुरेशैः कृते कृतार्थैर्मुनिसोमदेवैः ।
मया स्वभक्त्या क्रियते विचित्रं निबन्धनं ध्यानविधौ सुबोधम् ॥१२॥

निखिलसुरासुरसेवावसरमायातसुरसम्बोधनावधारितधर्मावसरण(णं) अमरोरगनरेन्द्रश्रीकल्पानोकहारामोल्लासामृताम्भोधरायमाण (णं) महा-परमपञ्चकल्याणकोकनदकाननोत्पत्तिसार (रं) भवाम्भोधिसमुत्तरणैक-सेतुबन्धं सम्यक्त्वरत्नं गीर्वाणगणा (न) नु ग्राहयता, अष्टादश सागरोपम-कोटीकोटीं वा यावन्नष्टत्वाद्दयादमत्यागादिस्वभावस्य धर्मस्य भरते धर्मकर्माणि प्रवर्तयन् (तु) भगवानितिजाताकूतपरिपाकेन, समाधि (वि) र्भविष्यदासन्नमृत्युं वैराग्ययोग्या (गा) य नीलांयसां प्रहितां गीर्वा-णेश्वरेण, तां च शृङ्गारादिरसाभिनयदक्षां हावभावविभ्रमविलासवतीं शान्तरसानन्तरमेव नश्वरस्वभावां विभाव्यात्मनोऽनश्वरस्वभावतां चिकी-र्षुरादिदेव इत्थं योगमुद्रामुन्मुद्रितवा नित्याह—

आदि जिनेन्द्र भगवान् ऋषभदेव कर्मभूमि की व्यवस्था कर शान्ति से प्रजा पालन कर रहे थे। भगवान् अपने पुत्र पुत्रियों के लिये लोकोपकारी विविध विषयों की शिक्षा देकर उनके द्वारा प्रजा का जीवन सुखमय बना रहे थे। एक दिन सौधर्मेन्द्र के मन में विचार आया कि जिनेन्द्रदेव के द्वारा कर्म-

भूमि की व्यवस्था तो पूर्ण हो चुकी है और प्रजा अपने व्यवस्थित जीवन द्वारा सुख-सन्तोष से समय विताने लगी है; परन्तु पारमार्थिक धर्म की ओर अभी लोगों की प्रवृत्ति नहीं हो रही है। और इसका होना तब तक सम्भव भी नहीं है जब तक कि आदिदेव-युगपुरुष अपने आचरण द्वारा इसकी प्रवृत्ति नहीं चलाते हैं। अतः कोई ऐसा निमित्त उपस्थित करना चाहिये कि जिससे इनका चित्त सांसारिक कार्यों से विरक्त होकर परमार्थ की ओर लग सके। यह विचार कर वह भगवान् की उपासना के लिये अयोध्या नगरी में आया और उनकी राज सभा में उसने अप्सराओं का गान तथा नृत्य कराना शुरू किया। नीलंयसा देवी की आयु बहुत थोड़ी रह गई थी। अतः इन्द्र ने यह विचार कर कि इसकी मृत्यु से भगवान् का चित्त संसार से विरक्त होकर परमार्थ की ओर लगेगा, उसे नृत्य के लिये खड़ा कर दिया। वह अपने नृत्य से सभा के लोगों का मन आनन्दित करने लगी; परन्तु कुछ ही समय में उसका जीवन समाप्त हो गया। इन्द्र ने रस भङ्ग न हो इस विचार से उस स्थान पर दूसरी देवी खड़ी कर दी; परन्तु भगवान् ऋषभदेव इस बात को अपनी दृष्टि से देख चुके थे अतः उनका मन संसार से एक दम विरक्त हो गया। उन्होंने निश्चय कर लिया कि सभी पदार्थ इसी नीलंयसा के समान भंगुर हैं—विनाशीक हैं मैं अब तक इन्हें व्यर्थ ही स्थिर रखने का प्रयत्न करता रहा। संसार में यदि कुछ स्थिर है तो स्वकीय शुद्ध आत्मा का स्वभाव ही स्थिर है, मुझे इसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

ऐसा विचार कर उन्होंने समस्त परिग्रह का त्याग कर योग-मुद्रा धारण कर ली। आदि पुरुष ध्यान-मुद्रा में पृथिवी पर विराजमान हैं उनकी दोनों भुजाएं नीचे की ओर झुककर उत्सङ्ग में प्रफुल्ल कमल की शोभा प्रकट कर रही हैं, वे अन्य साधुओं के समान एक या दोनों भुजाओं को ऊपर उठा कर तपस्या नहीं कर रहे हैं और ध्यानस्थ होने के कारण उनके श्वासोच्छ्वास की गति अत्यन्त मन्द है। आचार्य सोमदेव उनकी इसी योग-मुद्रा का वर्णन करते हुए स्तवन करते हैं—

मास्माधः स्ताद्धरित्री दिशतु स परमाः सम्पदोऽस्यामबिभ्र-
त्प्रोदास्ते यः पतत्स्मा पद[1], इति च कुतो निर्भरं सर्वदा यः।
मागुर्गोत्रक्षितिध्राः [2]क्षतिमिति, मरुतः प्रक्षिपन् सूक्ष्मवीक्षान्
मा भूद्वयोम्न्यप्रचारः पवनपथसदां वो यतोऽनूर्ध्वबाहुः ॥१॥

मास्मेत्यादि—दिशतु ददातु। काः सम्पदः विभूतीः। किंभूताः? परमा उत्कृष्टा अन्यजनासम्भाविनीः। केभ्यः? वो युष्मभ्यम्। कथं (वा) सर्वकालम्। कोऽसौ स देवः? यः। किं प्रोदास्ते स्म उदासीनो[3] बभूव। किं कुर्वन्? अबिभ्रत् न धरन्। के? पदे चरणे। कथं निर्भरं निर्भरारम्भं यथा भवति। कस्याम्? अस्यां धरित्र्याम्। कुत इति? इति कुतः। मा स्म पतत् मा स्म गच्छतु। कासौ? धरित्री। कथम्? अधस्तात् अधः पातालतले। पुनः किं कुर्वन्? प्रक्षिपन् विकिरन्। कान्? मरुतः वायून्। किं विशिष्टान्? सूक्ष्मवीक्षान् सूक्ष्मा वीक्षावलोकनं येषां ते सूक्ष्मवीक्षाः तान् सूक्ष्मावलोकनामित्यर्थः। कुत इति, इति कुतः? अस्मान्मागुः मा गच्छन्तु स्म। कां? क्षतिं विनाशम्। के? गोत्र क्षितिध्राः कुलपर्वताः। पुनः किं विशिष्टो योऽनूर्ध्वं क्षिपति? अनूर्ध्व-

१. क्रम त.। २ क्षितिम् त. ३. उदासीनी बभूव ख.।

बाहुः । कुत इति, इति कुतः ? यतो माभूत्, कः ? अप्रचारः अप्रवर्तनम् । क्व ? व्योम्नि-आकाशे । केषां ? पवनपथसदाम् पवनस्य पन्था मार्गः आकाशं तत्र सीदन्ति गच्छन्ति पवनपथसदः तेषां विद्याधराणामित्यर्थः । किमनेनोक्तं ? सर्वापिध्यानमुद्रा प्रकटीकृतेत्यर्थः । इदमेवाभि (न्य)ध्यायि पूर्वैरपि —

> श्वासो येन विनिर्जितोऽर्जितरयो देहस्य खेदास्पदो (दं)
> येनोन्मेषनिमेषभावरहिते नेत्रे स्थिरे स्थापिते ।
> यस्याशेषकुनीतिमार्गविषयो व्यापारसङ्गो गतो
> योगी सोऽत्र मनोगतोऽद्भुतरसे प्राप्तो दशामीदृशीम् ॥१॥

आत्मीयात्मीयराद्धान्तावबोधविमूढोद्धवहार (हरि) हर व्यवहारा, न्यक्षमोक्षकारणदीक्षावीक्षणसंक्षयावक्रूणतत्कारणविवक्षाऽदक्षा गृहगृहिणी-सङ्गभाजोऽपि गृहस्था ध्यानाधीनधिषणा भवन्तीति समभिदधुर्दुर्धियः केचन । अन्ये पुनः पाषण्डिषण्डाग्रेसराः पटुसितपटविटाः सग्रन्थस्यापि योगसंगततां सागरं बरायां (सागराम्बरायां) संगिरते ।

'वे वृषभ जिनेन्द्र तुम सब के लिये उत्कृष्ट संपदाएं—अनन्त चतुष्टय रूप विभूतियां—प्रदान करें जो कि संसार से अत्यन्त उदासीन हो तपश्चरण में निरत हैं तथा उस तपश्चरण की दशा में भी जो पृथिवी पर जोर देकर अपने पैर इसलिये नहीं रख रहे हैं कि कहीं मेरे भार से यह पृथ्वी नीचे की ओर न खिसक जावे । जो अत्यन्त सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास की वायु को इसलिये छोड़ रहे हैं कि कहीं उसका आघात पाकर कुलाचल विनाश को प्राप्त न हो जावें तथा जो अपनी दोनों भुजाओं को नीचा इसलिये किये हुए हैं कि कहीं इनके निमित्त से आकाश में देव और विद्याधरों का संचार रुक न जावे ।'

विशेषार्थ—कितने ही अन्य साधु तपश्चर्या करते हुए ज़मीन पर एक पैर से खड़े रहते हैं, कोई एक या दोनों भुजाएं ऊपर उठाये रहते हैं और कोई प्राणायाम के द्वारा किसी निश्चित समय तक श्वासोच्छ्वास को रोक कर बाद में बड़े वेग से छोड़ते हैं। यहां श्री सोमदेव सूरि ने उनकी उग्र तपो-मुद्रा से दिगम्बर तपो-मुद्रा में पार्थक्य प्रकट करते हुए कहा है कि जैनधर्म अध्यात्म प्रधान धर्म है। इसमें केवल शरीराश्रित क्रियाओं और मुद्राओं के लिये कोई स्थान नहीं है। यहां पद्मासन अथवा कायोत्सर्गासन में जो भी आसन सुखकर हो उसी से ध्यान किया जा सकता है, यह विधान किया गया है। साथ ही श्लोकगत तीनों विशेषणों से यह भी सूचित किया गया है कि भगवज्जिनेन्द्र की जितनी भी प्रवृत्ति थी वह सब त्रिजगद्धिताय-—तीनों लोकों का भला करने के लिये थी ॥ १ ॥

तानेतान्निर्लोठमानः श्रीसोमदेवसूरिः सोल्लुण्ठमुत्पाद्येत्याद्याह—

पातालान्ता बभूवुः खलजनजनिता वाक्पथाः कर्णपूराः
क्रुध्यच्चेष्टाश्च[1] साक्षात्त्वयि मतिविशि(सि)नीभानुभासोऽर्चितांगे
आशावासो वसाने पवनपरवशैः पांशु(सु)भिः कुन्तलालि
मुत्पाद्या(ट्या)मूलमेनोद्रुमगहनजटाजालवद्वीतमोहे ॥२॥

पातालान्ता इति—बभूवुः संजाताः। के ? कर्णपूराः कर्णाभरणानि। के कर्णपूरा बभूवुः ? वाक्पथाः वचनमार्गाः। किं विशिष्टाः ? खलजन-जनिताः दुर्जनजनोत्पादिताः। पुनः किं भूताः ? पाताल तान्ताः पाताले तान्ता विस्तृताः। कया ? उर्म्या लहर्या प्राचुर्येण (?)। तथा बभूवुः।

---

१. क्रुध्यत्येषा च त

काः ? क्रुध्यच्चेष्टाश्च क्रुध्यतां चेष्टाः कोपिनां व्यवहाराः। किं विशिष्टा बभूवुः ? मति विशि (सि)नीभानुभासः। मतिर्बुद्धिः सैव विसिनी पद्मिनी तस्या विकासाय भानुभासः। आदित्यदीप्त्यः (प्तयः)। कथं ? साक्षात्परमार्थेन। कस्मिन् ? त्वयि, किं विशिष्टे। चर्चितांगे भूषितशरीरे। कैः पांसुभिः रेणुभिः। किं भूतैः पवनपरवशैः वातेरणायत्तैः। पुनरपि किं भूते ? वसाने परिदधाने। किम् ? आशावासः दिग्वस्त्रम्। किं कृत्वा ? उत्पाट्य उन्मूल्य। कां कुन्तलालिं बालपङ्क्तिम् कथं। आमूलं मूलोन्मूलं यथा भवति। किं वत् ? एनोद्रुमगहनजटाजालवत्, एन. पापं तदेव द्रुमास्तेषां गहनमटवी तस्या जटाजूटानां जालं संघातस्तद्वत्। अस्य सर्वस्यापि सुभाषितस्यैदं कैम्पर्यम्, परमतैः किं वन्य स्वभावादेव भावानूतध्यानाधिरोहणं भवतीति भव्यैरवश्यमवसेयम् ॥२॥

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह विनिर्मुक्तस्य, जीवति जीविष्यति[1] जीवितपूर्वो वा जीव इति निरुक्तेः, अनाद्यनन्तकालजीवनभाजः, सर्वस्यापि जीवजातस्य ध्यानयोग्यतास्त्विति विप्रतिपन्नाः सामायिकाः समाचक्षते। तथा ज्ञानज्ञेयविज्ञानज्ञान् प्रमाणप्रमेयनिरूपणप्रवणेन समवान् नित्याद्येकांतवादिदर्पहर(रे)ण किं प्रमाणादिशास्त्राभ्यासेनेत्याचक्षाणान्परान्प्राणेत्याह—

आगे भगवान् की निर्ग्रन्थ अवस्था का चित्रण करते हुए कहते हैं—

'हे भगवन् आप दिशा रूपी वस्त्रों को धारण कर रहे हैं—शरीर की रक्षा तथा लज्जा के निवारणार्थ आपने अपने शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं रख छोड़ा है, वायु की परतन्त्रता से उड़ती हुई धूलि से आपका शरीर चर्चित हो रहा है—धूलि लिप्त शरीर में आप चन्दन चर्चा का आनन्दानुभव कर रहे हैं, आपने केशों के समूह को इस प्रकार उखाड़ कर फेंक दिया है मानों पाप रूप सघन वन की जटाओं के समूह को ही उखाड़

कर फेंक दिया हो, आप मोह से रहित हैं—पर पदार्थों में अहंबुद्धि तथा ममता की भावना से रहित हैं, पाताल तक फैले एवं दुर्जन मनुष्यों के द्वारा उच्चरित दुर्वचन आपके कर्णा-लंकार हैं—आप दुष्टों के दुर्वचन को सुनकर क्षोभ को प्राप्त नहीं होते हैं अपितु उन दुर्वचनों को कानों का आभूषण समझ प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और क्रोधी मनुष्यों की चेष्टाएं आपकी प्रतिभा रूपी कमलिनी को विकसित करने के लिये साक्षात् सूर्य की रश्मियों के समान हैं—दुर्जनों द्वारा किये हुए उपसर्ग आपकी केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं' ॥ २ ॥

विशेषार्थ—मोह के उदय से यह जीव कभी अपने आप को पर रूप मानता है। यत: भगवान् का मोह नष्ट हो चुका है अत: स्त्री पुत्र धन धान्यादि बाह्य पदार्थों में उनकी ममता बुद्धि नष्ट हो चुकी है। यही नहीं शरीर को भी वे अपना नहीं मानते हैं और इसी लिये शरीर की रक्षा करने वाले वस्त्रादि का भी उन्होंने त्याग कर दिया है। वे दिगम्बर हो चुके हैं—दिशाओं को ही उन्होंने अपना वस्त्र बना लिया है। वायु के वेग से धूलि उड़कर शरीर पर बैठती है पर इससे उन्हें ग्लानि नहीं होती अपितु ऐसा अनुभव करते हैं मानों चन्दन का लेप किया गया हो, शरीर की शोभा बढ़ाने वाले केशों को उन्होंने पाप रूपी अटवी की जड़ों के समूह के समान अपने हाथों से उखाड़ कर फेंक दिया है, उनकी कषाय इतनी शान्त हो चुकी है कि दुर्जन मनुष्यों के द्वारा कहे गये दुर्वचन—आक्रोशात्मक शब्द—उन्हें रोष पैदा नहीं करते, अपितु वे उन्हें कर्णों का आभू-

षण मान कर सन्तोष से श्रवण करते हैं। यदि कोई कमठ या रुद्र जैसे पूर्व भव के विरोधी जीव क्रोधवश विपरीत चेष्टाओं के द्वारा उपसर्ग करते हैं तो इससे उनका धैर्य विचलित नहीं होता अपितु आत्मध्यान में इतने अधिक तल्लीन हो जाते हैं कि श्रेणी मांढ कर शुक्लध्यान के द्वारा घातिया कर्मों का क्षय कर अन्तर्मुहूर्त में केवली बन जाते हैं। इस प्रकार दुर्जनों के उपसर्ग से उनकी बुद्धि ऐसी विकसित हो जाती है जैसे कि सूर्य की किरणों के सम्पर्क से कमलिनी विकसित हो जाती है। यहां कवि ने भगवान् की वीतराग मुद्रा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है ॥ २ ॥

[1]भव्येऽसौ धारणायां चतुरवयवजे सम्प्रयोगे धियोऽर्थे
[2]प्रत्याहारेऽक्षवृत्तेः स्वविषय [3]विश(स)राद्युक्त्युदर्के वितर्के।
ध्याने तद्ध्येयलीने यमनियमपथावस्थिते क्षेत्रनाथे
माध्यस्थ्याब्धौ समाधौ समधिकधिषणो योगमुद्रामुपैति ॥३॥

प्राणेत्या–विउपेति प्राप्नोति। कां ? योगमुद्राम् ध्यानमुद्राम्। कः ? समधिक धिषणः स (×) संगताऽधिका उत्कटा धिषणा बुद्धिर्यस्य सः। क्व सति ? संप्रयोगे समीचीनसंयोगे। किं भूते ? चतुरवयवजे चत्वारोऽवयवा यस्य सः। तस्माज्जातः। के ते चत्वारोऽवयवाः ? इन्द्रिय आयुर्बल उच्छ्वासनिःश्वास प्राणाः (इन्द्रियायुर्बलोच्छ्वासनिःश्वास प्राणाः) अत्रेन्द्रियादीनां द्वन्द्वः। इन्द्रिय-आयुर्बल-उच्छ्वास-निःश्वासा (इन्द्रियायुर्बलोच्छ्वासनिःश्वासा एव प्राणाः) प्राणशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। कुतः ? यत् द्वन्द्वात्परं यच्छ्रूयते तत्प्रत्येकमपि संबंध्यते। कस्यां सत्याम् ?

---

१ भव्योऽसौ, इति टीकागतमूलश्लोक पाठः टीकायां तु 'प्राणेशो' इत्येव पाठः। २ प्रत्याहारो त, ३ विशसत् त ४ योगनिद्राम् त.

धारणायाम् । कालान्तराविस्मरणकारणं धारणा, तस्याम् । कस्याः ? धियः बुद्धेः । कस्मिन् ? अर्थे द्रव्यपर्यायात्मके जीवाजीवलक्षणे । न केवलं धारणायाम् प्रत्याहारे च सति । प्रत्याहारो हि व्यावर्तनं तस्मिन् । कस्याः ? अक्षवृत्तेः । अक्षाणि-इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनादीनि तेषां वृत्तेः प्रवृत्तेः । कस्मात् ? स्वविषयविश (स) रात् । स्वस्य विषये आत्मीयोपभोग्ये रूप रसादौ तत्र विश (स) रः प्रवर्तनं तस्मात् । पुनः क्व सति ? वितर्के श्रुते । कुतो वितर्कः श्रुतम् ? यतः, वितर्क्यते निन्नीयते (निर्णीयते) जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वं येन स तस्मिन् । किंभूते ? युक्त्युदर्के । ननु केयं युक्तिर्नाम ? नयप्रमाणात्मिका युक्तिः । कानीमानि नयप्रमाणानीत्युच्यते । नया नैगमादयः । प्रमाणे प्रत्यक्षपरोक्षरूपे । नय प्रमाणान्येव आत्मा स्वरूपं यस्याः सा नयप्रमाणात्मिका तया । उदर्के महति । पुनः कस्मिन् सति ? ध्याने चिन्तने । किंभूते ? तद्ध्येयलीने स चासौ ध्येयश्च तद्ध्येयः शुद्धात्मस्वभावः । तत्र लीनं संबद्धं तस्मिन् । भूयः क्व सति ? क्षेत्रनाथे क्षेत्रं शरीरं तस्य नाथः स्वात्मीयात्मेत्यर्थः, तस्मिन् । किं विशिष्टे ? यमनियमपथावस्थिते । यमो यावज्जीवव्रतं, नियमो हि परिमित कालं व्रतम्, तयोः पन्था वर्त्म तत्रावस्थितः, तस्मिन् । पुनः क्व सति ? समाधौ, समाधिरैकाग्र्यं तस्मिन् । किंभूते ? माध्यस्थाब्धौ माध्यस्थ्य (स्थ्यं) रागद्वेषयोरभावः । स एवाब्धिः समुद्रस्तस्मिन् । अयमत्र समुदायार्थः—पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्यायात्मकः तर्कव्याकरणाध्यात्मसिद्धान्तादिशास्त्रनिर्णीततत्त्वार्थः सद्ध्येयाविचलधीध्यानमुद्रामाश्रयतीति ॥ ३ ॥

प्रवृद्धेद्धक्रोधोद्धुर सिन्धुरकन्धराधिरोहिणोऽपि कनककान्तिकीर्णकायकान्तिकमनीयकामिनीरमणीयरमणरसितस्वान्ता अपि जैनध्यानं विदधाना आत्मनो हास्यास्पदतां सूचयन्तीति दर्शयन्तः सूरयः प्राहुः—

आगे उक्त ध्यान-मुद्रा को कौन धारण कर सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ध्यान-मुद्रा के स्वामी का वर्णन करते हैं—

'जो प्राणों का स्वामी है—इन्द्रियादि दश प्राणों का धारक होकर पर्याप्तक अवस्था को प्राप्त हुआ है, जो धारणा में दक्ष है—कालान्तर में अनुभूत पदार्थों का स्मरण रखता है, जो इन्द्रिय बल आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार अवयवों से उत्पन्न समीचीन संयोग में कुशल है, जो बुद्धि के—ज्ञान के विषय भूत सामान्य विशेषात्मक अथवा द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थों के चिन्तन में निपुण है, जो स्पर्शनादि इन्द्रियों को अपने २ स्पर्शादि विषयों के समूह से व्यावृत्ति करने में समर्थ है, जो नय-प्रमाण रूप युक्तियों से श्रेष्ठ आगम में कुशल है, जो शुद्धात्म स्वभाव रूप ध्येय में लीन रहने वाले ध्यान में निपुण है, जो यम और नियम के मार्ग में स्थित आत्मा के ध्यान में निपुण है, और जो माध्यस्थ्यभाव के समुद्र स्वरूप समाधि के धारण करने में—चित्त की स्थिरता रखने में सिद्धहस्त है वही मनुष्य योग-मुद्रा को—ऊपर कही हुई ध्यान-मुद्रा को—प्राप्त होता हैं।'

विशेषार्थ—योग और ध्यान दोनों पर्याय वाचक शब्द हैं। ध्यान का अर्थ है चित्त की स्थिरता अर्थात् योग और कषाय के निमित्त से ज्ञान में जो चञ्चलता होती है उसका दूर हो जाना ध्यान कहलाता है। कवि ने इस पद्य में ध्यान करने वाले प्राणी का निरूपण किया है। ध्यान करने वाले जीव को सर्वप्रथम पर्याप्तक होना चाहिए और वह तभी हो सकता है जबकि ५ इन्द्रिय ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन दश प्राणों का

स्वामी हो गया हो, इसलिए प्रथम विशेषण 'प्राणेश:' दिया है। इसके बाद ज्ञान में धारण शक्ति का होना आवश्यक है। पूर्व समय में अनुभूत विषय का कालान्तर में स्मरण होना धारणा का काम है। यह धारणा मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रकट होने वाला मतिज्ञान का सर्वोत्कृष्ट भेद है। पदार्थ ज्ञान में यह अन्तरङ्ग कारण है। इसके रहते हुए यदि बुद्धि का इन्द्रियादि प्राणों के साथ संयोग नही हुआ—एक क्षेत्रावगाह नहीं हुआ तो पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि परोक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय संयोग आवश्यक कारण है अत: बुद्धि का इन्द्रि-यादि चार प्राणों के साथ संयोग होना आवश्यक बताया है। इस प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारण के मिलने पर इस जीव का ज्ञान कभी द्रव्य में कभी पर्याय में और कभी दोनों में स्थिर होता है अत: पदार्थ के चिन्तन करने में निपुण होना आवश्यक है। ज्ञानोपयोग पदार्थों मे स्थिर हो जाता है परन्तु स्पर्शनादि इन्द्रियां अपने-अपने विषय ग्रहण की उत्सुकता से उसे एक स्थान में दीर्घकाल तक स्थिर नहीं रहने देतीं अत: ध्यान करने वाले को आवश्यक है कि वह इन्द्रियों की स्पर्शादि विषयों में जो प्रवृत्ति होती है उसका निराकरण करे—मनोयोग को दृढ़कर इन्द्रियविजयी बने। प्रत्येक पदार्थ का निरूपण वितर्क अर्थात् श्रुत में—आगम में हुआ है और वह आगम नय तथा प्रमाण रूप युक्तियों से निरूपित है अत: ध्यान करने वाले को आवश्यक है कि वह नय और प्रमाण का ज्ञान प्राप्त कर श्रुत का—आगम का—अच्छा अभ्यास करे। आगम में स्वद्रव्य के

अतिरिक्त पर द्रव्य का भी निरूपण है उन सबके ध्यान से इस जीव का उतना कल्याण नहीं होता जितना कि स्वद्रव्य के ध्यान से होता है अतः ध्यानाभिलाषी जीव को शुद्धात्म स्वभाव-रूप ध्येय में लीन रहने वाले ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। आत्मा यम और नियम के मार्ग में अवस्थित है। किसी वस्तु का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करना यम है और काल की मर्यादा लेकर त्याग करना नियम है। ध्यान के इच्छुक जीव को क्षेत्र—शरीर के अधिपति रूप उक्त आत्मा का ध्यान करना आवश्यक है और सबसे अन्त में प्राप्त होने वाली चित्त की स्थिरता रूप समाधि को भी प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। यह समाधि ही माध्यस्थ्य भाव—वीतरागभाव का सागर है। जब चित्त राग द्वेष से रहित होकर शुद्धस्वभाव में स्थिर हो जाता है तभी समाधि की यथार्थ प्राप्ति होती है। ऐसी समाधि में स्थिर रहने वाला जीव ही योगमुद्रा—ध्यान-मुद्रा को प्राप्त होता है ॥३॥

यः पात्रं नास्ति मैत्र्याः प्रशममुपगता यस्य नाशापिशाची
न स्थैर्यं यस्य चित्ते स्मरदहनशिखाः शान्तिभाजो न यस्य।
यः क्लेशानामसोढा करणपरिणतिः स्वस्य वश्या कथं नो
त्वद्ध्यानं भो! विधित्सुर्भवति स महतां नोपहासाय देही ॥४॥

यः पात्रमित्यादि—हे भगवन् कथं न भवति? अपि तु भवत्येव। कोऽसौ देही अङ्गी। किमर्थम्? उपहासाय हासाय। केषाम्? महतां सताम् संसारार्णवदूरवर्तिनाम्। स किं विशिष्टः? विधित्सुः कर्तुमिच्छुः। किम्? त्वद्ध्यानं तवध्यानं जैनध्यानमित्यर्थः। पुनः किं भूता? यो न

भवति । किं ? पात्रं भाजनम् । कस्या. ? मैत्र्याः । केयं मैत्री नाम ? परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री तस्याः । पुनः किम् ? यस्य नोपगता न गता । कं ? प्रशमं विनाशम् । का ? आशापिशाची, आशा सर्वग्रहणाभिप्रायः सैव पिशाची राक्षसी । यथा किल ग्रहगृहीतः प्राणी हिताहितं कृत्याकृत्यं च न वेत्ति तथा आशाराक्षसीगृहीतः प्रवेश्या प्रवेश्यं याच्यायाच्यं च न जानातीति । भूयः यस्य किं ? न स्थैर्यं न स्थिरत्वम् । क्व ? चित्ते मनसि । पुनः किं यस्य ? शान्तिभाजो न प्रशमजुषो न । काः ? स्मरदहन शिखाः, स्मरः कामः स एव दहनो वह्निः तस्य शिखा ज्वालास्ताः । पुनः किं भूतो यः ? न सोढा न सहिता । केषां ? क्लेशानां दुःखानाम् । पुन. किं यस्य ? न वश्या नायत्ता । कस्य ? स्वस्य आत्मनः । का ? करणपरिणतिः करणानामिन्द्रियाणां परिणतिः परिणामः । सकलप्राणिगणपरममैत्रीतन्द्रः स्ववशीकृतनिखिल करणग्रामः द्वाविंशतिपरीषहारातिचमू पराजय परायणः स्थिरीकृताशयप्रचारः परमजैनमुद्राधरः जैनध्यानानुविधाने समर्थ इतिसकलवृत्त तात्पर्यार्थः ॥ ४ ॥

आगे निम्नाङ्कित मनुष्य ध्यान नही कर सकता यह बताते हैं—

'जो मित्रता का पात्र नही है, जिसकी आशा रूपी पिशाची शान्त नहीं हुई है, जिसके चित्त मे स्थिरता नहीं है, जिसकी कामाग्नि की शिखाएँ शान्त नहीं हुई है—जो परिषहों को सहन नही कर सकता है और जिसको इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वयं निज के आधीन नहीं है हे भगवान् ! ऐसा पुरुष आपका ध्यान कैसे कर सकता है ? और करना भी चाहे तो क्या महापुरुषों की हँसी का पात्र नहीं होगा ? अवश्य होगा ।'

बिशेषार्थ—कभी किसी प्राणी को दुःख न हो ऐसी इच्छा रखना मैत्री या मित्रता है । जिस मनुष्य के उक्त लक्षण वाली

मित्रता नहीं है वह द्वेष वश—किसी प्रबल शत्रु आदि के पराजय की भावना से तपश्चरण करता है परन्तु उसका वह तपश्चरण वास्तविक तपश्चरण नहीं है। 'संसार की समस्त वस्तुएं मुझे ही मिल जावें।' इस प्रकार की तृष्णा को आशा कहते हैं। आचार्यों ने इसे पिशाची-राक्षसी की उपमा दी है जिस प्रकार किसी भूत पिशाच के वश हुआ प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार की कुचेष्टाएं करता है उसी प्रकार आशा से ग्रस्त हुआ प्राणी भिन्न भिन्न प्रकार की कुचेष्टाएं करता है। समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभू स्तोत्र में भगवान् शीतलनाथ का स्तवन करते हुए लिखा है कि

अपत्यवित्तोत्तर लोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते
भवान् पुनर्जन्मजरा जिहासया त्रयीप्रवृत्ति शमधीरवारुणात् ॥

अर्थात् हे शीतलजितेन्द्र ! कितने ही तपस्वी संतान, धन अथवा परलोक की तृष्णा से तपश्चरणादि कार्य करते हैं परन्तु आपने जन्म और जरा को छोडने की इच्छा से—शांत चित्त हो मन वचन काय की प्रवृति को रोका है। इससे सिद्ध है कि आशा के वशीभूत होकर किया हुआ तपश्चरण जैनधर्म संमत नहीं है और न उससे भव-भ्रमण का अभाव ही होता है। चित्त की स्थिरता को ही ध्यान कहते हैं अतः विषय कषाय आदि के कारण जिसका चित्त चञ्चल हो रहा है उसके ध्यान नहीं बन सकता, जिसके चित्तमें कामाग्नि की ज्वालायें प्रज्वलित होरही हैं उसका उपयोग स्थिर नहीं रहता। वह सदा अपनी प्रेयसी की प्राप्ति के उपाय सोचता रहता है अतः ध्यानाभिलाषी पुरुष को

काम पर पूर्ण विजय प्राप्त करना चाहिए। यह सब होने पर भी जो क्षुधा तृषा शीत उष्ण आदि परीषहों को अथवा मनुष्य तिर्यञ्च देव और अचेतन कृत उपसर्गों को नहीं सह सकता वह ध्यान से दूर रहता है। ऐसा व्यक्ति परीषहादि के आने पर मार्ग से च्युत हो जाता है अतः ध्यानाभिलाषी मानव को कष्ट-सहिष्णु बनना चाहिए। यह कष्ट सहिष्णु अवस्था तभी हो सकती है जबकि इन्द्रियों की प्रवृत्ति को अपने आधीन कर लिया जाय। जिस मनुष्य की इन्द्रियां बिना लगाम के घोड़े के समान स्वच्छन्द हैं वह थोड़ा सा कष्ट आने पर ध्यान से विचलित हो जाता है अतः आचार्य महाराज ने सबसे अन्त में इस बात पर जोर दिया है कि ध्यान के इच्छुक मनुष्य अपनी इन्द्रियों को स्वच्छन्द नहीं होने दें। ये सब ध्यान के साधक हैं इनके बिना जो ध्यान करने का उपक्रम करता है वह महापुरुषों की हँसी का पात्र होता है ।।४।।

मनोज्ञामनोज्ञवस्तुनिपातेऽप्यनुत्पन्न स्वचित्तविकाराणामेव योगीश्वराणां जैनध्यानानुध्यानमुपपन्नमितीदानीं दर्शयन्ति—

चर्चां देहे ददति (दधाने)[1] द्विषति भजति वा कर्दमैः कुङ्कुमैर्वा
नो खेदः सम्भवो वा पितृवनपटकैर्दिव्यचीनांशुकैर्वा।
येषां हृष्टयंभोष्टे[2] हसति नमति वा निन्दितैः संस्तुतैर्वा
संबन्धं ते धुताशा दधतु विदधतीष्टां धृतिं वोऽपि भूयः ।। ५ ।।

चर्चामित्यादि—दधतु धरन्तु। काम् ? धृतिं संतोषम्, प्रियाप्रियार्थोपभोगेऽपि[3] चित्ताविकृतिम्। केषां ? वः युष्माकं भव्यात्मनाम्।

---

१. उभयत्र पुस्तके 'ददति' इत्येव पाठः किन्त्वत्र छन्दोभङ्गो भवति.
२. हृष्टे चोर्येभीन्ठे त. ३ प्रियार्थोप ख.

ते के ? धुताशाः अस्ताशाः, निर्मूलैहलौकिक पारलौकिकभोगाभिलाषाः। येषां किम् ? नो खेदः न परितापः सम्भवो वा न हर्षो वा न। क्व सति ? ददति[1] (ददाने) प्रयच्छति। कां ? चर्चां भूषाम्। क्व ? देहे शरीरे। कस्मिन् ? द्विषति शत्रौ। कैः कृत्वा ? कर्दमैः पङ्कोपलेपैः। न केवलं (द्विषति)[2] भजति वा मित्रे वा। कैः ? कुंकुमैः काश्मीरोपलेपैः। भूयः किं (विदधति) ? कुर्वाणे। कं ? सम्बन्धं संयोगम्। कैः ? पितृवन-पटकैः पितृवनं श्मसानं तत्र कुत्सिताः पटाः पटकाः तैः श्मसानचीवरैः। पुनः कैः ? दिव्यचीनांशुकैः दिवि भवानि दिव्यानि चीनांशुकानि पट्ट-वस्त्राणि तैः। भूयोऽपि पुनरपि किं कुर्वंति ? द्वेष्टरि हसति हासं विदधाने। कैः ? निन्दितैर्निन्दावचनैः। अभीष्टे किं कुर्वंति ? नमति नमः कुर्वाणे। कैः ? संस्तुतैः स्तुतिवचनैः। प्रतिबन्धकारि शुभाशुभद्रव्योपनिपातेऽपि लब्धानन्तचतुष्टयात्मकपरमात्मस्वभावानुभवनादविचलितस्वरूपा एव ध्यानिनो भवेयुरिति व्याख्यात वृत्ततात्पर्यार्थः ॥ ५ ॥

आगे इष्ट अनिष्ट पदार्थों के संयोग में जिन्हें हर्ष-विषाद नहीं होता ऐसे महायोगीश्वर तुम्हें भी धैर्य प्रदान करें—समता बुद्धि देवें ··ऐसा निरूपण करते हैं—

'कोई शत्रु, शरीर पर कीचड़ का लेप लगाता है, और कोई मित्र शरीर पर केशर की चर्चा करता है। कोई श्मशान में पड़े हुए मृतक पुरुषों के जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों से शरीर का संयोग करता है और कोई उत्तम चायना सिल्क के वस्त्रों में शरीर को ढकता है, कोई द्वेष करता हुआ निन्दात्मक वचनों से हँसी उड़ाता है और कोई इष्ट पुरुष स्तुत्यात्मक शब्दों के साथ

---

१. छन्दोभङ्गवशात् मूले टीकायाञ्च ददतीतिस्थाने 'ददाने' इत्येवपाठः सम्यक् भाति।

नमस्कार करता है। फिर भी इन दोनों की—शत्रु और मित्र की—चेष्टाओं पर जिन्हें खेद और हर्ष नहीं होता वे समस्त आशाओं को नष्ट करने वाले योगीश्वर आप लोगों को भी बार बार अभिलषित धैर्य प्रदान करें।'

विशेषार्थ—संसार में ऐसे ही मनुष्यों की अधिकता है जो कि अनुकूल उपचार करने वाले पर प्रसन्न हो जाते हैं और प्रतिकूल उपचार करने वाले पर अप्रसन्न हो जाते है। ऐसे पुरुष कषाय के भार से आक्रान्त रहते हैं। वे वीतरागता के पर्याय वाचक साम्यभाव से बहुत दूर रहते हैं उन्हें समीचीन ध्यान की प्राप्ति किसी भी तरह नहीं हो सकती। परन्तु जो इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी अपने माध्यस्थ स्वभाव को सुरक्षित रखते है वे महापुरुष है। जो इस लोक और परलोक-सम्बन्धी आशा को ठुकरा देते है वे ही उस उत्तम अवस्था को स्वयं प्राप्त हो सकते हैं और दूसरों के हृदय में भी साम्य-भाव उत्पन्न करा सकते हैं। यथार्थ साम्यभाव को धारण करने वाले मनुष्य की आत्मा में इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है कि वह 'अवाग् विसर्ग वपुषा मोक्षमार्ग निरूपयन्तम्' वचन से कुछ भी न कहने पर अपने शरीर से ही मोक्षमार्ग का निरूपण करने लगता है। जहां ऐसे महापुरुष अवस्थित होते हैं वहां के हिंसक पशु भी अपना जन्म-जात विरोध भूल जाते हैं और परस्पर में मित्र के समान क्रीड़ा करने लगते हैं। राजा श्रेणिक ने द्वेष वश दिगम्बर मुनि के गले में मृत सर्प डाला था पर तीन दिन बाद जब वे रानी चेलना के साथ उनके पास जाते

हैं, चेलना उनके गले से मृत सर्प निकाल कर उनका उपसर्ग दूर करती है और उपसर्ग दूर हुआ समझ कर जब मुनिराज अपना मुख खोलते हैं तो कहते हैं 'युवयोर्धर्मवृद्धिरस्तु' तुम दोनों को धर्म वृद्धि हो। राजा श्रेणिक के हृदय में सहसा परिवर्तन होता है कि कहां मैं दुष्ट, जिसने मृत सर्प गले में डाल कर इन्हे तीन दिन तक कष्ट पहुंचाया और कहाँ यह चेलना ? जो कि खबर पाते ही रात को दौड़ी आई और उपसर्ग दूर कर सन्तुष्ट हुई। फिर भी मुनिराज हम दोनों के लिये एक साथ धर्म वृद्धि दे रहे है, इन्होंने यह क्रम भी नहीं रक्खा कि पहले उपकार करने वाली चेलना को धर्मवृद्धि देते और बाद में मुझ दुष्ट को। कितना साम्यभाव इनकी आत्मा में भरा है। सच्चा धर्म यही है। अब तक मै व्यर्थ बौद्धधर्म को और तदनुयायी गुरुओं को अपना हितैषी मान कर भटकता रहा। इत्यादि विचार कर राजा श्रेणिक बौद्धधर्म को छोड़कर जैनधर्म मे दीक्षित हो गये। सारांश यह है कि साम्यभाव—वीतराग भाव ही परमधर्म है। इसे ही प्राप्त करने का अहर्निश प्रयत्न करना चाहिये* ॥ ५ ॥

यदन्तस्तत्त्वमन्तःसंवेदनेन संविदते विदिततत्त्वार्थकर्म्मन्दिवृन्दारका जननान्तरविरोधिविविचित्रचित्र चित्रकचमरचमूरुचर्वण-दन्तिदन्तोद्दलनाम्बो - लन-भृगालीगलगुहोन्मुक्तस्फारफूत्कारनिर्गताग्नि -नागोद्गीर्णगाढगरलान-

* अन्यत्राप्युक्तम्—'एकः पूजा रचयति नरः पारिजात प्रसूनैः
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी,
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥

लपरिष्वङ्ग - वृन्दारकवृन्दविद्याधरसैन्यसंबाधोपजनितचेतनोपसर्गभाजोऽपि तथा तृणकण्टककाष्ठेष्टकानिचयोपरिपात-शरद्धेमन्ताविर्भू (घृ) तूल-म्नोत्प्लुष्टशीतलजलप्लवासादिताचेतनोपप्लवा अपि श्रीपार्श्वनाथसु-कोशलसुकमालकुमारारविन्दसंजयन्तादयस्तत्कथमप्यपरित्यजन्तस्तेषुतेषूपा-ख्यानेषु। यथावच्छ्रूयन्त इति संवादयन्तः सूरय इदमूचुः।

भूयांसि त्वं महांसि क्षिप तपन परं [1]प्लुष्यदाशानभांसि
ज्यायांसि त्वं पयांसि क्षर मिहर खरं क्षुभ्यदुर्वीमनांसि।
सोर्जांसि त्वं रजांसि सृज पवन हिमं भूरि मूर्च्छत्तरांसि
श्रेयांसि स्वावभांसि त्यजति न धृतधीरेष नूनं रहांसि॥६॥

भूयांसि त्वमित्यादि—तथापि न त्यजति न परिहरति। कथम्? नूनं निश्चितम्। कानि? रहांसि एकान्तानि अन्तस्तत्त्वाभ्यासानि। किंभूतानि? श्रेयांसि मोक्षकारणानि। कुतो? यतः श्रेयःशब्देन मोक्ष-मभि (क्षोऽभि) धीयते। 'श्रेयः परमपरञ्चे' त्याप्त विचारावसरे आप्त-परीक्षायां[2] तथाभिधानात् भूयः किंभूतानि? स्वावभांसि स्वस्य आत्मनः अवभासनमवभासः प्रकाशः, परमात्मरूपप्रकाशकानि। कः? एषः योगी, धृतधीः पुण्यधीः। धिषणा शुद्धबुद्धिः। यद्यपि त्वं क्षिप प्रेरय। हे तपन! हे भानो! कानि? महांसि तेजांसि। किंभूतानि? भूयांसि प्रचुराणि। पुनः कथं भूतानि? प्लुष्यदाशानभांसि दह्यमानदिगाकाशानि। कथम् परम् अत्यर्थम्। यद्यपि त्वं क्षर मुञ्च। हे मिहर! हे मेघ! कानि? पयांसि पानीयानि। किंविशिष्टानि? क्षुभ्यदुर्वीमनांसि चलज्जगतीचित्तानि पुनः कथंभूतानि? ज्यायांसि प्रचुराणि। कथम्? खरम् अत्यर्थम्।

१. शुष्यदाशाः त.। २. 'श्रेयो निश्रेयसं परमपरं च। तत्र परं सकल कर्म विप्रमोक्ष लक्षणं बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां 'कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षोमोक्ष' इतिवचनात्। ततोऽपरमार्हन्त्य लक्षणं घातिकर्मक्षयादनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभस्यापरनिःश्रेयसत्वात्।' आप्त परीक्षा २ कारिका।

यद्यपि सूज त्वं क्षिप त्वम् । हे पवन ! हे वायो ! कानि ? रजांसि धूली-आलानि । किंभूतानि ? सोजांसि समर्थानि । कथम् ? हिमं नीहार यथा भवति । भूयः किं भूतानि ? भूरि मूर्च्छत्तरांसि भूरि प्रचुर (रं) मूर्च्छत् प्रादुर्भवत तरो वेगो(येषां तानि)प्रभूतोद्गच्छद्वेगानि । चतुर्विध-चेतना चेतनोद्भूतोड्डमरडमराडम्बराश्रयिणोऽपि अनुभूय मानस्वभाव-भावभाजो (विचलिता) न भवन्तीति निर्णीतार्थवृत्तसमुदायार्थः ॥६॥

आगे गर्मी वर्षा तथा शीत के भयकर दुःख प्राप्त होने पर भी महायोगीश्वर मोक्ष-पथ से विचलित नहीं होते हैं…यह कहते हैं—

'हे सूर्य ! तू, दिशाओं और आकाश को दग्ध करने वाले बहुत भारी तेज को छोड़। हे मेघ ! तू पृथ्वी पर स्थित प्राणियों के चित्त को क्षुभित करने वाले बहुत भारी जल की अधिक से अधिक वर्षा कर। और हे पवन ! तू बहुत भारी वेग से उड़ने वाली शक्तिशाली धूलि तथा अधिक से अधिक तुषार की वर्षा कर, तो भी यह निश्चय है कि धैर्य के धारक योगीश्वर शुद्धात्मतत्त्व को प्रकाशित करने वाले कल्याणकारी एकान्त स्थान को नहीं छोड़ते हैं।'

विशेषार्थ—ग्रीष्म ऋतु में जब कि दिनकर अपनी प्रचण्ड किरणों से समस्त दिशाओं और आकाश को संतप्त कर देता है, जब मनुष्य ऊपर की ओर आंख उठाकर भी देखने में असमर्थ हो जाता है, पृथ्वी अत्यन्त संतप्त हो जाती है, वृक्ष छाया रहित हो जाते हैं और जब चारों ओर से उष्ण वायु वेग से बहती है उस समय भी योगीश्वर–दिगम्बर मुनिराज शरीर से निःस्पृह हो शुद्धात्मा के ध्यान में निरत रहते हैं। वर्षा ऋतु

में जब चारों ओर से मूसलाधार वर्षा होती है, आकाश में बिजली चमकती है, झंझा वायु अपने प्रबल झकोरों से शरीर को कम्पित कर देती है तब योगीश्वर किसी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर शुद्धात्म-स्वरूप का चिन्तन करते है और जब शीतकाल मे तीक्ष्ण वायु कही धूलि उडाती है और कही वर्फ गिराती है तब योगीश्वर अपने शरीर मे नि:स्पृह हो शुद्धात्म-स्वरूप के ध्यान मे निरत रहते है वे उस समय श्री पार्श्वनाथ तीर्थकर, सुकोशल स्वामी, सुकुमाल स्वामी, राजा अरविन्द तथा सजयन्त आदि मुनियो के पावन चरित का चिन्तवन करते हुए अपने हृदय मे शरीर और आत्मा का पृथक् पृथक् ध्यान करते हैं और इस प्रकार कल्याणकारी एकान्त स्थान को वे कभी भी नही छोडते है। साराश यह है कि जो किन्ही अन्य के द्वारा उत्पादित अथवा प्रकृति के द्वारा प्रदत्त सकटो से विचलित नही होते वे ही समीचीन योग-मुद्रा के धारक हो सकते है ॥ ६ ॥

सहज जातिविरोधसम्बन्धमवधूय बन्धुतामधिगम्यहरिहरिण वराह-मयसितद्रुतुरगारिकरिपुण्डरीकप्रभृतयो जन्तवः परस्परप्रणयपरायणाः लांगूललालन ससभ्रमावलोकभृङ्गाग्रविलेखनजिह्वावलेहनादीनि प्रति-लीलायितानि बिभरांबभूवुर्यद्ध्यानमाहात्म्यादिति निगदन्ति—

पुत्रप्रीत्याहिबालं कलयति नकुली सिंहशावं करेणु—
र्माहापत्यं लुलायी प्रमुदितहृदया व्याघ्रपोतं कुरङ्गी।
दूरारूढिप्रगाढाद्विगलदविकलध्वान्तजालात्त्वदीया—
दित्थं ध्यानावधामादजनिषत मिथो जन्तवोऽमी वनेऽपि ॥७॥

पुत्रेत्यादि—हे भगवन् ! जिन ! अजनिषत संजाताः। अमी प्रत्यक्षीभूताः। क्व ? वनेऽपि अरण्येऽपि। के ? जन्तवः प्राणिनः। कथं ?

मिथः अन्योऽन्यम् । कस्मात् ? ध्यानावधानात् चिन्तनैकाग्र्यात् । किंभूतात् ? त्वदियात् तवेदं त्वदीयं तस्मात् भावत्वात् । किंभूतात् । दूराऽङ्घ्रिप्रगाढात् दूरे परमप्रकर्षं आरूढौ आरोहणे तेन (×) प्रगाढं स्थिरतरं तस्मात् परमप्रकर्षपर्यन्तगमने सति निःप्रकम्पावित्यर्थः । पुनः किंभूतात् ? विगलत् निर्गच्छत् अविकलं परिपूर्णं ध्वान्तं तमस्तस्य जालं संघातः (यस्मात्) तस्मात् निर्गच्छत्संपूर्णाज्ञानसंघातात् । कथम् ? इत्थम् अनेन प्रकारेण । अनेन कथम् ? यतः कलयति मन्यते । का ? नकुली नकुलमहिला । कम् ? अहिबालम् भुजङ्गशावम् । कया ? पुत्रप्रीत्या सुतप्रेम्णा । न केवलं सा, करेणुरपि हस्तिन्यपि । कम् ? सिंहशावम् कण्ठीरवबालकम् । तथा का ? लुलायी महिषी । किंभूता ? प्रमुदितहृदया हृष्टचिन्ता । कम् ? वाहरित्यम् तुरङ्गमतोकम् । तथा कुरङ्गी सारङ्गी । कम् ? व्याघ्रपोतम् पुण्डरीकतनयम् । आस्तां तावदमर्षविषोत्कर्षाय कर्षौ मनुष्याणां तिरश्चां ततिरितरेतरापकारिण्यपि बन्धुरबन्धुतां गता स्नेहभावेन वर्त्तते इति व्याख्यातवृत्त समुदायार्थः ॥७॥

आगे जन्म विरोधी जीव भी आपके ध्यान के प्रभाव से अपना विरोध भूल जाते हैं···यह कहते हैं—

'हे भगवन् ! परम प्रकर्ष तक पहुंचने से अत्यन्त दृढ़ता को प्राप्त तथा समस्त अज्ञानान्धकार के समूह से रहित हुए आपके ध्यान की एकाग्रता से ये जीव वन में भी परस्पर ऐसे हो गये कि नेवली सांप के बच्चे को, हस्तिनी सिंह के बच्चे को, भैंस घोड़े के बच्चे को, और हरिणी व्याघ्र के बच्चे को प्रसन्नचित्त हो पुत्र की प्रीति से देखने लगी ।'

अन्यत्राप्युक्तम्—

'सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणय पर वशं केकिकान्ता भुजङ्गम् ।

वैराग्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमित कलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥'

विशेषार्थ—पवित्र आत्मा का ऐसा ही अद्भुत प्रभाव है कि उसके सन्निधान में जन्म विरोधी जीव भी अपना वैर भाव छोड़कर परस्पर क्रीड़ा करने लगते हैं। सांप और नेवले का, हस्ती और सिंह का, भैंस और घोडे का तथा हरिणी और व्याघ्र का पारस्परिक वैर जगत् प्रसिद्ध है, परन्तु जहां पवित्र हृदय के धारक महायोगीश्वर विराजमान रहते हैं वहां ये जीव शान्त होकर एक दूसरे से हिलमिल जाते हैं। समवसरण आदि प्रमुख स्थानों पर मनुष्य देव आदि विशिष्ट प्राणी निर्विरोध हो जावें इसमें आश्चर्य नही परन्तु निर्जन वन में विचरने वाले अज्ञान निभृत जन्तु भी निर्विरोध हो जाते है यह आश्चर्य की बात है ॥ ७ ॥

योगाभ्यासविघातिविघ्नसंघातघाते निरन्तरमन्तस्तत्त्वोपलम्भे योगीश्वराणां [1]घनापघने बहिर्त्यज्यते तदि (ती) दानीं दर्शयन्ति—

आनन्दस्यन्दिबिन्दूद्गमनजटलिते लोचने निःप्रकम्पे
यद्ध्याने नावसेयः कथमपि मरुतां गन्धवाहान्तराले।
रोमाञ्चोदञ्चवृद्धिर्भवति च सरणं कोऽप्यवाक् स प्रकाशो
ध्यानं धन्योऽयमुच्चैर्दधदपधुनुतात्साध्वसं वः स योगी। ८।

आनन्देत्यादिना—स योगी अपधुन[2] (नु) तात् निराकुर्यात्। किम्? साध्वसंभयम् चातुर्गतिकसंसारोरगभोगोद्गच्छद्दुःखगरलानलाभिषङ्गभीतिम्? कथम्? उच्चैरतिशयेन। केषाम्। वः युष्माकं भव्यात्मनाम्।

---

१. घने यहिर्यज्जायते ख० । २. अपधुनातात् ख०

पुनः किंभूतः ? धन्यः कृती। किं कुर्वन् ? वहन् धरन् । किम् ? तत् । तत् किम् ? ध्यानम् । यस्मिन् ध्याने किम् ? सः । के ? लोचने अक्षिणी । किं भूते ? आनन्दस्यन्दि बिन्दूद्गमनजटिलिते आनन्दः परमसुखं तेन स्यन्दिनः स्राविणः. ते च ते बिन्दवो जललवाः तेषामुद्गमनानि ऊर्ध्वगमनानि तैर्जटिलिते जटायुक्ते परमात्मानुभवपरमसुखस्राविकश्रुणाङ्किते । भूयः किंभूते ? निःप्रकम्पे अचले । पुनः किम् यद्ध्याने ? नावसेयो न न ज्ञातव्यः । क. ? व्यापारः प्रवृत्तिः । कथम् ? कथमपि केनापि प्रकारेण । केषां ? मरुतां वायूनाम् । क्व ? गन्धवाहान्तराले गन्धवाहानामन्तरालं मध्यं(तस्मिन्)नासामध्ये । मुहुः किम् ? भवति । का ? रोमाञ्चोदञ्चवृद्धिः रोमाञ्चः पुलकः उदञ्चवृद्धिः प्रबल पुलकालिलीनता । भूयः किम् ? यस्मिन् भवति । कः प्रकाशः प्रबोधः । किंभूतः ? अवाक् वाचामगोचरः । पुनः किंभूतः । यः स कोऽपि स कश्चिदप्यद्वितीयः । कुतः ? ध्रौव्योत्पादव्ययस्वभावसल्लक्षणलक्षित सूक्ष्मान्तरितचेतनाचेतनात्मकत्रिकालत्रिलोकविषयविषयी यतः । शुद्धध्यानानुध्यानाधीनधियां ध्यानिनांधन्यधीरवन्धुरसंहननममन्दानन्द सन्दोहोदञ्चदुच्चरोमाञ्चसञ्चयरचनाचर्चाञ्चितवीक्षणात्सहचरानुचरणचतुरचातुरीसञ्चरच्चञ्चरीकनिचयं विरलविरलनिर्गलज्जललवाविलाक्षिपक्ष्मलं सकलवचनातीतचित्तप्रकाशं भवतीतिनिरूपितवृत्ततात्पर्यार्थः ॥ ८ ॥

आगे प्रशस्त ध्यान के धारक महाभाग मुनिराज चतुर्गति-सम्बन्धी जीवों के भय को दूर करें...यह कहते हैं—

'जिस ध्यान में दोनों नेत्र आनन्द से प्रकट होने वाले हर्षाश्रुओं की बूंदो से व्याप्त तथा निश्चल हो जाते हैं, जिस ध्यान में नासिका के भीतर वायु के संचार का पता नहीं चलता, जिस ध्यान में रोमाञ्चों की बहुत वृद्धि हो जाती है और जिस ध्यान में वचनागोचर प्रकाश का अनुभव होता है उस उत्कृष्ट

ध्यान को धारण करने वाले धन्यभाग योगीश्वर तुम सबके भय को दूर करें ।'

विशेषार्थ—जिस समय योगीश्वर ध्यान निमग्न होते हैं उस समय वे विचार करते हैं कि अहो ! मैंने आज तक पर-पदार्थों को अपना मान कर उनके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद का अनुभव किया । मैंने अपने शुद्ध-बुद्ध-निरञ्जन स्वभाव की ओर आज तक दृष्टि नहीं डाली । अनन्त आनन्द का सागर तो हमारे हृदय में ही हिलोरें भर रहा है—इत्यादि विचार से उनके नेत्रों में हर्षाश्रु छलक पड़ते हैं तथा उनकी चञ्चलता दूर हो जाती है । शरीर में स्थिर रहने से श्वासोच्छ्वास इतनी मन्थर गति से चलता है कि वह चल रहा है या नहीं चल रहा है इसका निर्णय नहीं हो पाता । अपनी अनादि भूल के दूर हो जाने एवं अचिन्त्य आत्म-शक्ति का भान हो जाने के कारण उनके शरीर में रोमाञ्च उठने लगते हैं और अज्ञानान्धकार दूर हो जाने से हृदय मे सम्यग्ज्ञान का इतना भारी प्रकाश फैल जाता है कि जिसका शब्दों के द्वारा वर्णन करना कठिन होता है । आचार्य सोमदेव कहते हैं कि जो महानुभाव इस उत्कृष्ट ध्यान को धारण करते हैं वे धन्य हैं—अत्यन्त श्रेष्ठ हैं । ऐसे योगी संसार के जीवों के भव-भय को दूर करें ॥८॥

आदित्योद्द्योतमानसमकरन्दारविन्दोदरप्रासादवासेन्दिरामन्दानन्दोदय विजृम्भणात्स्वयमुदयमानेऽपि तद्विनोदने शारदिन्दु कुन्दकुड्मलसमवदनसुदतीनाममृतरोचीरोचिः स्पर्शविकसन्नीलोत्पलदल दीर्घनयनानां चञ्चत्काञ्चन-कुम्भसन्निभशुम्भत्स्तनाभोगानां

नरामरोरगाङ्गनानां भृङ्गारोत्तरङ्गित ससंभ्रमभुविभ्रमाणां दिव्यभोगो-पसेवायामपि वीतस्पृहा योगीश्वरा भवन्तीत्य कथयन्ति सूरयः—

ये लक्ष्मीणां विनोदे स्वयमुदयपरेऽपि प्रसादे महेच्छा
ध्यानर्द्धीनां प्रभावे त्रिदशमृगदृशां दिव्यभोगोपसेवे।
कल्पद्रूणां प्रचारे भुवि दिवि दिशि वा कामचारे विहारे
वीतेच्छा धाम ते वस्तदसमविभवं योगिनो वर्द्धयन्तु ॥ ९ ॥

ये लक्ष्मीणामित्यादिना—वर्द्धयन्तु वृद्धिं नयन्तु। किं तत्? धाम तेजः। किं भूतम्? तत् प्रसिद्धं चण्डरोचिश्चन्द्रसप्तार्चिरोचिश्चयानां तिरस्कारगोचरमिति तच्छब्दार्थः। भूयः किंभूतम्? असमविभवम् अद्वितीयैश्वर्यं परमार्हन्त्यपदम्। केषाम्? वो युष्माकम्। के? ते योगिनः। ते कथंभूताः? महेच्छाः महः पूजा इच्छा इष्टिः पूज्यचरिताः। मुहुः किं भूताः? वीतेच्छाः विशेषेण इता गता इच्छाभिलाषो येषां ते। क्व? विनोदेविलासे। किंभूते? स्वयमुदयपरे स्वयमुदयप्राप्ते। कासां? लक्ष्मीणां साम्राज्यसम्प्रदाम्। न केवलं तथा क्व? प्रसादे प्रसादः प्रसत्तिः तस्मिन्। अम्बिका चक्रेश्वरीज्वालामालिनीपद्मावतीप्रभृतिदेवतासेवायाम्। तथा क्व? प्रभावे माहात्म्ये। कासाम्। ध्यानर्द्धीनां ध्यानविभूतीनाम्। कास्ताऋद्धयः?

'बुद्धिर्महावरतपः सुलभोपलब्धिर्वैकारिकी विविधसर्वरुजां प्रहन्त्री।
सर्वौषधीबलरसर्द्धिरथाक्षया च सप्तैव ता किल भवन्ति सुयोगभाजाम्' ॥

भूयः तथा क्व? दिव्यभोगोपसेवे दिविभवादिव्याः ते च ते भोगाश्च तेषामुपसेवा(वः) तस्मिन् स्वर्गभोगोपसेवने? कासाम्? त्रिदशमृगदृशां देवाङ्गनानाम्। मुहुस्तथा क्व? प्रचारे प्रवृत्तौ। केषाम्? कल्पद्रूणाम् त्रिदिवानोकहानाम्। भूयस्तथा क्व? विहारे पर्यटने। किं विशिष्टे? कामचारे स्वेच्छा प्रवर्तने। कस्याम्? भुवि पृथिव्याम्। न परं दिवि व्योम्नि। न केवलं दिशि आशायाम्। लक्ष्मीलीलायिते साम्राज्यविलासे

शासनदेवतोपनीते नगरादिरचनाविशेषे ध्यानसमृद्ध्यधिकबुद्ध्यादि ऋद्धि-सम्पत्तौ भक्तिप्राग्भारायातसुरसीमन्तिनीसुखसन्ताने वसनाङ्गनादिदशकल्पा-वनीरुहोपकल्पितदशाङ्गभोगे च परमात्मसंवेदनानुभूत्युत्पन्नानन्तचतुष्टया-त्मक सुखस्पृहयालवः स्वयं समायातेऽपि परासरीश्वराः स्पृहां न गच्छन्तीति व्याख्याकृतवृत्तसंघातार्थः ॥६॥

आगे जिन्होंने सब प्रकार की इच्छाओं को जीत लिया है ऐसे योगी ही ध्यान धारण कर सकते हैं यह कहते हैं—

'जो महानुभाव स्वयं प्राप्त हुई राज्य सम्पदाओं के विलास में अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती आदि शासन देवियों के प्रसन्न करने में, ध्यान के फलस्वरूप प्राप्त हुई अनेक ऋद्धियों के प्रभाव में, देवाङ्गनाओं सम्बन्धी स्वर्गीय भोगों के उपसेवन में, कल्पवृक्षों के प्रचार में तथा पृथिवी, आकाश, दिशाओं एवं विदिशाओं में स्वेच्छानुसार विहार करने में इच्छा रहित है, वे योगिराज तुम सब के अद्वितीय ऐश्वर्य से युक्त तेज को वृद्धि-गत करें।'

विशेषार्थ—मुनिराज ध्यान करते हैं पर उसके फलस्वरूप उन्हें यह इच्छा नहीं होती कि हम चक्रवर्ती हो जावें और षट्-खण्ड वसुधा के साम्राज्य का उपभोग करें। भिन्न-भिन्न प्रकार के शासन देव हमारे ऊपर प्रसन्न होकर हमारा प्रभाव फैलावें ऐसी इच्छा से वे दूर रहते हैं। तपश्चरण के प्रभाव से हमारे अनेक ऋद्धियां प्राप्त हों और उनके बल से संसार में हमारा गौरव बढ़े, यह इच्छा उनके स्वप्न में भी नहीं होती। हम समाधि से प्राणतज स्वर्ग में उत्पन्न हों और वहां देवाङ्गनाओं

के साथ उत्तमोत्तम भोग भोगें यह इच्छा उनके कभी नहीं होती। हम भोगभूमि में उत्पन्न होकर वहां कल्पवृक्षों में विहार करें अथवा देव या विद्याधर होकर पृथिवी में, आकाश में तथा समस्त दिशाओं और विदिशाओं में इच्छानुसार भ्रमण करें ऐसी अभिलाषा से वे बहुत दूर रहते है। वे सब ओर से अपने मनो-व्यापार को निवृत्त कर शुद्ध आत्म-स्वरूप में लीन रहते हैं। ऐसे ही महानुभाव अष्टप्रातिहार्यरूप अनुपम ऐश्वर्य से युक्त परम आर्हन्त्य पद को स्वय प्राप्त होते हैं और दूसरों को प्राप्त कराते हैं इसीलिए आचार्य सोमदेव ने भावना प्रकट की है कि उक्त मुनिराज तुम सब के लिए अनुपम तेज प्रदान करें ॥६॥

अशेषविषमविषयव्यापारोपरतमात्मानं गमनातिगमनखेदश्चित्रक्षेत्रं सङ्कल्पनृपपालं ध्यानोपयोगोद्गच्छवच्छतुच्छसंवेदन सुधारसास्वादनमेदुर वदनोदरावरं मन्दप्रचारं कुर्वन्तीति निवेदयन्तः (सूरयः प्राहुः)—

आत्मव्योमप्रकाम[1]भ्रमिभिदुरतनुं यो मनोराजहंसं
योगोद्योग प्रयोगोन्मिषदमृतरसास्वादमन्द प्रचारम्।
निःसंज्ञीकृत्य सर्वेन्द्रियविधिविगमादुद्वसे वेह गेहे
सानाथ्यं संविधत्ते प्रशमयतु स वो निर्ममः कर्मधर्मम् ॥१०॥

आत्मव्योमेत्याहुः—प्रशमयतु उपशमयतु। स योगी। किं? कर्म-धर्मम् कर्माणि ज्ञानावरणादीनि तान्येव धर्मं परितापम्, ज्ञानावरणादु-त्पादितदुःखानलपरितापम्। केषाम्? वः युष्माकम्। स किंभूतः? निर्ममः ममेतिबुद्धेर्निष्क्रान्तः जीवाजीवात्मके वस्तुनि ममेति मति रहितः।

१. भ्रम त।

यः किं विधत्ते ? कुरुते। किम् ? सानाथ्यं सनाथस्य भावः सानाथ्यं प्रभुत्वम्। क्व ? देहगेहे शरीरसद्मनि। किंभूते ? उद्वसे शून्ये। किं कृत्वा ? निःसंज्ञीकृत्य, संज्ञा अभिध्यानं संज्ञाया निष्क्रान्तः निःसंज्ञः, अनि संज्ञं निःसंज्ञं कृत्वा, निर्ममतामुपनीयेत्यर्थः। कस्मात् ? सर्वेन्द्रियविधिविगमात् सर्वेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, विधीयत इतिविधिः कार्यं तस्य विगमो विनाशः। रूपरसः गन्धाद्यशेषविषयाभिरतेर्विरामस्तस्मात्। कं ? मनो-राजहंसं चित्तेन्द्रवारणम्। किं भूतम् ? आत्मव्योम प्रकामभ्रमिभिदुरतनुम् आत्माजीवः स एव व्योम आकाशं तस्मिन् आकाशे प्रकाममत्यर्थं भ्रमि-र्भ्रमणं तेन भिदुरा कदर्थिता तनुः शरीरं यस्य तम् आत्माम्बरावरविहारा-श्रयिश्रमश्रान्तिक्लिष्टकायम्। भूयः किंभूतम् ? योगोद्योगप्रयोगोन्मिषद-मृतरसास्वादमन्दप्रचारम् योगोध्यानं तत्रोद्योग उद्यमः तस्य प्रयोगः प्रयोजनं तस्मादुन्मिषत् प्रादुर्भवत् अमृतरसं च अमृतंसुधा तस्य भावं रसं तस्यास्वाद आस्वादनं तेन मन्दं चारं मन्दम्। ईषत्प्रचारोगमनम् ध्यानोद्य-मानुयोजनादुद्भवत्पीयूषप्रवाहपानाद्बहिरवरुद्धप्रसरमित्यर्थः। सकलकरण-कार्याणामभिरतेः समूलकाषं कषणात् त्रैलोक्यसाम्राज्यं जरत्तृणतुलां प्रापयतामात्मतारापथसततातनावरतक्लेशवलेशितमूर्तिश्चेतोनृपतिवारणः आनन्दात्मात्माभ्यासमानसरसः सवास एव भवतीति निबाधितवृत्त-संकल्पितार्थः ॥१०॥

आगे इन्द्रिय और मन के व्यापार से रहित योगीश्वर कर्म रूप आताप को नष्ट करें यह कहते हैं—

'आत्मा रूपी आकाश में अत्यन्त भ्रमण करने से जिसका शरीर खेद खिन्न हो रहा है, और ध्यान के उद्योग के प्रयोजन से प्रकट होने वाले अमृत रस के आस्वाद से जिसका प्रचार मन्द हो गया है, ऐसे मन्द रूपी राज-हंस को जो निश्चेष्ट बनाकर, समस्त इन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाने से शून्य रूप दिखने

वाले शरीर रूपी गृह में स्वामित्व प्रकट कर रहे हैं वे ममता बुद्धि से रहित योगीश्वर तुम सबके कर्मरूपी आताप को शान्त करें।'

विशेषार्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां तथा मन ये मिलकर शरीर को आवाद किये हुये हैं अर्थात् जब तक शरीर में इन्द्रियों और मन की प्रवृत्ति जारी रहती है तब तक शरीर आवाद दिखता है और इनकी प्रवृत्ति के अभाव में शरीर शून्य हो जाता है। मन राज-हंस पक्षी के समान इतस्ततः भ्रमण करता रहता है। सरागी मनुष्यों का मन राग-वर्धक पदार्थों मे घूमता रहता है परन्तु वीतराग मनुष्य का मन अन्य पदार्थों से निवृत्त होकर एक आत्मा के ही चिन्तन में लीन हो जाता है। जब ध्यान का प्रारम्भ होता है तब अन्य पदार्थों से हटा कर मन को आत्मा के ध्यान में लगाया जाता है परन्तु जब सतत साधना से कर्म निर्जीर्ण होने लगते है और ध्यान का फल मिलने का अवसर आता है तब मन आत्म-चिन्तन से भी व्यावृत्त हो जाता है; क्योंकि आत्म-चिन्तन भी एक प्रकार का विकल्प ही है और निर्विकल्पक अवस्था में यह विकल्प संभव नहीं होता है। वीतराग मनुष्य ने ध्यान धारण करने में जो उद्योग किया था उसके फलस्वरूप आत्म-स्वरूप में स्थिरता होने से उसके अलौकिक शान्ति रूपी अमृत प्रकट होने लगता है उसके रसास्वाद से मन का प्रचार शान्त हो जाता है। इस प्रकार वीतराग मनुष्य अपने मन रूपी राज हंस पक्षी को निश्चेष्ट बना देता है। मन इन्द्रियों का राजा है

अतः जब मन निश्चेष्ट बन गया तब इन्द्रियां स्वयमेव निश्चेष्ट हो जाती हैं अर्थात् अपने अपने योग्य स्पर्शादि विषयों के ग्रहण से विरत हो जाती हैं। यह सब होने से वीतराग साधु का शरीर रूपी घर शून्य हो जाता है। मोक्ष प्राप्त होने के पूर्व तक साधु की आत्मा उस शून्य शरीर में आवास करती है अतः अपने अस्तित्व से उसे सनाथ बनाये रहती है परन्तु उस शरीर में उनके कुछ भी ममता नहीं रह जाती। वे पूर्णरूप से निर्मम हो जाते हैं। यहां आचार्य सोमदेव आशीर्वाद के रूप में अपनी आशंसा प्रकट करते हैं कि ऐसे ममता रहित योगी तुम सब के ज्ञानावरणादि कर्म रूपी आताप को शान्त करें ।।१०।।

श्रुतपरिचितानुभूतस्वनिता [1]चन्दनादिद्रुमसन्देहोद्भूतभोगोपभोगोज्ज्वोज्ज्वलिङ्गनारङ्गलवङ्ग कक्कोलैलामोचचोचाचमनलालसमानसो मनोगोलांगूलो निरालम्बे न रमते इति तस्या लम्बनं कथयन्तो ब्रह्मग्रंथेरित्यादि ग्रंथितवन्तः सूरयः—

ब्रह्मग्रन्थेरुदीर्णं तदनु च सुचिरं नाभिपद्मेऽवतीर्णं
हृत्पंके जे प्रकीर्णं परिचितरसने तालुरन्ध्रे विशीर्णम् ।
चक्षुर्भ्रूभालमूर्द्धान्तरपरिसरणोपास्तिनिस्तीर्णविघ्नं
यस्यासीत्स्वान्तमित्थं प्रथयतु पृथुतां प्रार्थितैर्वः स मान्यः ।।११।।

प्रथयतु विस्तारयतु। कां? प्रथुतां परमपदवीं त्रिभुवनाधिपतिसेवनीयामित्यर्थः। कैः प्रार्थितैः याचितैः ध्यानाभ्यासपरमप्रकर्ष पर्यन्तगमनैः: कः? स ध्यानी। कथंभूतो? मान्यः पूज्यः केषां? वो युष्माकम्। यस्य किम्? आसीत् संजातम्। किम्? स्वान्तं मनः। कथम्? इत्थम् अनेन प्रकारेण। कथम्? उदीर्णम् उद्गतम्। कस्याः? ब्रह्मग्रन्थेः निखिलान्त-

१. चन्दनाति ख.

ग्रंथिमूलात् । पुनः किं भूतम् ? अवतीर्णमायातम् । क्व ? नाभिपङ्कजे नाभ्यम्भोजे । कथम् ? तदनु च, ततस्मात् अनु पश्चात् । कथम् ? सुचिरं बहुतरकालम् । भूयः किंभूतम् ? प्रकीर्णं क्षिप्तम् । क्व ? हृत्पङ्कजे हृदयकोकनदे । पुनः किंभूतम् ? विशीर्णम् । बाह्याशात्रुटितम् । क्व ? तालुरन्ध्रे तालुर्गलस्तस्यरन्ध्रं विवरं तस्मिन् । किंविशिष्टे ? परिचितरसने जिह्वायुक्ते । पुनः किंभूतम् ? चक्षुर्भ्रूभालमूर्द्धान्तरपरिसरणोपास्तिनिस्तीर्णविघ्नम् चक्षुर्नयनं, भ्रूर्वल्ली, भालं ललाटं, मूर्द्धा मस्तकं तेषु परिसरणं परिवर्तनं तेनोपास्तिः सेवा तथा निस्तीर्णम् उत्तीर्णं विघ्नम् अन्तरायं (यस्य) तत् । लोचनभ्रूलताभालान्तरालावतारोत्तीर्णान्तरायौघमित्यर्थः । आत्मात्मीयपरिच्छित्तिविकलकरणसमूहसोदरसंवासशून्येऽपि शरीरारामे नाभिहृत्कमलक्रीडनेन नेत्ररसनापथमन्दिरोदरप्रवेशनेनकुन्तलनिलयनीलशिलातलोपवेशनेन च विनष्टध्यानविघ्नसंघातं तत्रैव मनोबालकं रमयन्ति मुनिनाथा इति व्याख्यातवृत्तसंहत्यर्थः ॥११॥

आगे योगी का मन शुद्धात्मस्वरूप से हट कर कहां कहां स्थिर होता है...यह कहते है—

'जिनका मन ब्रह्म-ग्रंथि से उद्गत हो चिरकाल तक नाभि रूप कमल में अवतीर्ण रहा, फिर हृदय कमल में लीन हुआ, अनन्तर जिह्वायुक्त कण्ठ प्रदेश में बाह्यआशाओं से रहित हो विशीर्ण हुआ और तत्पश्चात् नेत्र, भौह, ललाट तथा मस्तक में परिवर्तित हो निर्विघ्न रूप से स्थिर रहा वे पूज्य योगीश्वर ध्यानाभ्यास की परम प्रकर्षता की प्राप्ति द्वारा तुम सब की परम लक्ष्मी–मोक्ष लक्ष्मी–को विस्तृत करें।'

विशेषार्थ—ध्यान की सिद्धि के लिए मन को निर्विकल्पक शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थिर करना चाहिए। यही ध्यान का

अन्तिम रूप है और इसीसे कर्म-निर्जरा रूप फल की प्राप्ति होती है। परन्तु मन को निर्विकल्पक शुद्ध-आत्म स्वरूप में स्थिर रखना प्रत्येक मनुष्य के लिए सरल कार्य नहीं है। अतः जिनका मन निर्विकल्पक शुद्ध आत्म-स्वरूप से हटता है वे अपना मन नाभि प्रदेश में स्थित अष्टदल कमल में स्थिर करते हैं, वहां से हटता है तो हृदयस्थल में स्थित अष्टदल कमल की कलिकाओं पर उसका विचरण कराते हैं, वहां से चलता है तो कण्ठ चक्षु भौंह ललाट तथा मस्तक पर उसे स्थिर रखते हैं, इस प्रकार इन आलम्बनों से मन को स्थिर रखने का अभ्यास करते हैं और अन्त में शुद्ध आत्म स्वरूप में स्थिर करते हैं। यहां आचार्य सोमदेव ने आशीर्वाद देते हुए अपनी आशंसा प्रकट की है कि पूर्वोक्त प्रकार से जिन्होंने अपने मन को स्थिर कर लिया ऐसे योगीश्वर तुम्हें परम लक्ष्मी—मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करे ॥११॥

परीक्षादक्षमुमुक्षुपूर्वपक्षक्षमाक्षीणज्ञानकक्षाक्षूणवीक्षादक्षितप्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणसाक्षात्कृतप्रत्यक्षपरोक्षार्थाः कर्मकक्षं दिधक्षुणा मुमुक्षुणा निखिलकर्ममोक्षलक्षणपुरुषार्थसिद्धि कथं भवतीति पृष्टा इव सदृष्टान्ता यथा सिद्धौषधिसंबन्धाद्रसस्य विभावस्वभिरतौ आतायामारकूटादिलोहाष्टकं हाटकतामटति तथा श्रद्धासिद्धौषध्यभिषङ्गात्पुरुषपारदस्य ध्यानधनञ्जया-नुरमणे शरीरं कदर्थसि (सीति) मोक्षार्थसिद्धि निरूपयतः (यन्तः) श्रद्धेत्यादि निरूपयन्ति सूरयः—

श्रद्धा सिद्धौषधेः स्यात्पुरुषरसरतिर्ध्यानवैश्वानरेऽस्मिन्
नि: (नैः) सङ्गयेध्मप्रवृद्धे शमदमदृढाधारसंबन्धनेन ।

संजायेतार्थसिद्धिः कथमिति न परा देहिलोहे जनस्य
पश्चाद् व्योमोपयोगाल्लघु समधिगते काञ्चनास्थां रसेन्द्रे॥१२॥

स्याद्भवेत्। का ? पुरुषरसरतिः पुरुषः आत्मा स एव रसः पारदः तस्य रतिः रमणम्। कस्याः ? श्रद्धासिद्धौषधेः श्रद्धा सम्यग्दर्शनं तदेव सिद्धा निष्पन्ना परमौषधिस्तस्याः। क्व ? अस्मिन् ध्यानवैश्वानरे ध्यानं वक्ष्यमाणलक्षणं धर्म्यशुक्लरूपं तदेव वैश्वानरोऽग्निः तस्मिन्। किं भूते ? निः (नैः) सङ्गयेन्ध्रप्रवृद्धे निःसङ्गस्यभावो हि परमनैः किञ्चन्यं तदेवेध्म न्ष्ठानि तैः प्रवृद्धे ज्वालाकराले। केन ? शमवगमदृढाधारसम्बन्धनेन शमोरागाद्युपशमः अवगमः समयसारादिप्राभृतशास्त्रपरिज्ञानं स एव दृढाधारः घनासा (?) दर्शनं तस्य सम्बन्धनं संयोगस्तेन कथं न सञ्जायेत् ? केन प्रकारेण नोत्पद्येत ? अपि तु भवत्येवेत्यर्थः। का ? अर्थसिद्धिः। अर्थो धर्मार्थकाममोक्षरूपः तस्य सिद्धिः निष्पत्तिः प्राप्तिरिति। किंभूता ? परा अक्षया मोक्षरूपिणीति यावत्। क्व ? देहिलोहे, देहोऽस्यास्तीति देही आत्मा एव लोहमयः तस्मिन्। यथा लोहः किट्टकालिका कलितमयो रूपतां धत्ते तथा जीवोऽप्यन्तरङ्ग मोहाहंकारकारणनिकरोद्भूतान्तरङ्गरागरोष-रूप कालिकोपलेपाद् बहिरङ्गकलत्रपुत्रमित्रशत्रुसाधनसन्निधानाधीन ज्ञाना-वरणादि कर्माष्टकोत्पादित कार्म्मणौदारिककायस्वभाव बहिरङ्ग किट्टा-क्रान्तत्वादयः स्वभावतां प्रतिपद्यते। कस्य ? जनस्य भव्यसाधकस्य। क्व सति ? समधिगते प्राप्ते। काम् ? काञ्चनास्थाम् काञ्चनाद्वितीयास्थां दशाम् अयोगिचरमदशाम्। क्व ? रसेन्द्रे आत्मनि। न केवलं तत्र रसेन्द्रे च। कां ? काञ्चनास्थां स्वर्णस्वभावताम्। कथम् ? लघुतूर्णम्। कथम् ? पश्चात्। कस्मात् ? व्योमोपयोगात् व्योमाकाशम् अभ्रकञ्च। आत्मरसपक्षे सकलविकल्पातीतात्मतत्त्वं व्योम तत्रोयोपयोगो मुहुर्मुहुरभ्यासः तस्मात् शुद्धोपयोगोपयुक्तपरमात्मानुध्यानात्। सर्वौषधिसम्पर्कान्निरस्यार-नालजलासया (?) च्चित्रभानुभानुभास्वरतासहिष्णुतायामभ्रकोपयोगेन गर्भितांगे रसेन्द्रे सति कति तुरगातपत्राभिरामो यावकत्व भोक्तृत्वदातृत्व

स्वभावार्थनिष्पत्तिर्यथा धातुवादिनां संपनीपद्यते। पञ्चविंशति मलरहित सम्यग्दर्शनस्यौषधियोगाज्जीवसंज्ञरसस्य योगजातवेदसि रततायामुत्पादिता-यां समुच्छिन्नक्रियारूपशून्योपयोगेन पञ्चलघ्वक्षरकालकलां काञ्चनावस्थां मंक्षु विगाहमाने परमात्मनि मोक्षलक्षणार्थसिद्धिः तथायोगिनां बोभवीतीति ररंशितवृत्त तात्पर्यार्थः ॥१२॥

आगे ध्यान से ही समस्त प्रयोजनों की सिद्धि होती है यह प्रकट करते हैं––

'लोकोत्तर शान्ति और भेद-विज्ञान रूपी दृढ़ आधार का सम्बन्ध पाकर निष्परिग्रहता रूपी ईंधन से प्रज्वलित होने वाली इस ध्यान रूपी अग्नि में श्रद्धारूपी सिद्धौषधि के सुयोग से आत्मा का आत्मीयसुख में रमण होने लगता है, (पक्ष में आत्मा रूपी पारद की सिद्धि हो जाती है) तदनन्तर निर्विकल्प ध्यान के उपयोग से (पक्ष में अभ्रक आदि के संयोग से) अनन्त सुख सम्पन्न (पक्ष में पारद भस्म से सम्पन्न) यह आत्मा रूपी लोहा जब शीघ्र ही किसी अद्वितीय अवस्था को (पक्ष में सुवर्ण-रूपता को) प्राप्त हो जाता है तब इस जीव की मोक्ष प्राप्ति रूप प्रयोजन की सिद्धि (पक्ष में धन-धान्यादि विविध वैभव की सिद्धि) क्यों न होगी ? अवश्य होगी।'

विशेषार्थ––यहां आचार्यवर्यने ध्यान के लिये अग्नि की उपमा दी है। उसका कारण यह है कि जिस प्रकार अग्नि के सम्बन्ध से अनेक पुद्गल परमाणु भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यान के सम्बन्ध से कर्म रूप पुद्गल परमाणु भस्म हो जाते हैं। राग और द्वेष का उपशमन होना शम कहलाता है तथा

समयप्राभृत आदि ग्रन्थों के अध्ययन से प्रकट हुआ भेदविज्ञान अवगम कहलाता है। शम और अवगम का सम्बन्ध पाकर ध्यान रूपी अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित हो उठती है। शम और अवगम के प्रभाव से इस मानव की निर्ग्रन्थ दशा प्रकट हो जाती है और वह ध्यानाग्नि के प्रज्वलित होने में ईधन का काम करती है। श्रद्धा सिद्धौषधि के समान है और आत्मा पारदधातु के समान है। जिस प्रकार सिद्धौषधि के प्रयोग से पारदधातु अग्नि में अभिरत होकर पारदरस रूप हो जाती है और तदनन्तर अभ्रक आदि पदार्थों के संयोग से लोहे को सुवर्ण बना देने की क्षमता प्राप्त कर लेती है उसी प्रकार यह आत्मा श्रद्धा के प्रयोग से धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान रूपी अग्नि में अभिरत होकर रसराज बन जाती है और निर्विकल्पक शुक्लध्यान के सहयोग से जीवात्मा रूपी लोहे की काञ्चन दशा अर्थात् अयोग-केवली रूप अद्वितीय दशा पक्ष में काञ्चन दशा अर्थात् सुवर्ण रूप दशा में परिवर्तित करने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। एतावता यह सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार जब किसी दरिद्र मनुष्य को पुरुषार्थ द्वारा पारदरस प्राप्त हो जाता है तब वह उसके संसर्ग से अपरिमित लोह-राशि को सुवर्ण बना बनाकर अपने समस्त ऐहिक प्रयोजन सिद्ध कर लेता है उसी प्रकार यह आत्मा भी ध्यानाग्नि में शुद्ध हो मोक्ष रूप परम प्रयोजन को सिद्ध कर लेता है ॥ १२ ॥

विपर्यस्तमत्युर्वीरितस्मृतीतीहासपुराणाभ्यासोत्थप्रभुत्वस्तिविलासिनी-विलासलालसमनसा मीमांसका गङ्गागोदावरी-चन्द्रभागानर्मदादि-

सलिल स्वभावापगासङ्गमोवकस्नानाद्भवोच्छेदो भवतीतिम्युपगच्छन्ति तान्निराचक्षाणाः सद्बोधपाथः पूरमन्थरितमसित्रिवशलीरिणीतीर्थस्थित-योगापगोपयोगभिषेकभाजां जन्मिनां जन्मवल्लरी मूलोन्मूलतां व्रजतीति ब्रुवाणा वैराग्येत्यादि वृत्तानी सूरयः—

वैराग्यापारवारेः प्रशमदमदयोदीर्णमार्गत्रयायाः
सम्यग्ज्ञानोन्मदोर्म्मेर्मतिसुरसरितः सत्यतीर्थे स्थितानाम् ।
जन्मोच्छेदो नराणां व्रवदखिलमलस्वान्त संतोषभाजां
ध्यानस्नानुबन्धान्नहि भवति परां तीरिणीं याचितानाम् ॥१३॥

भवति । कः ? जन्मोच्छेदः जन्मप्रादुर्भावः उच्छेदो विनाशः संसारा-भावः । केषाम् ? नराणां मनुष्याणाम् । किंभूतानाम् ? स्थितानामुप-ष्टितानाम् । भूयः किंभूतानाम् ? व्रवदखिलमलस्वान्तसंतोषभाजाम् व्रवद् गच्छत्तदखिलं सकलं ज्ञानावरणादिरूपं कर्म (यस्मात्तत्) तच्च तत्स्वान्तं चेतः तस्य संतोषः अत्रामुत्रभोगानभिलाषः तं भजन्ति सेवन्त इति तेषाम् । कस्मात् ? ध्यानस्नानानुबन्धात् ध्यानं रत्नत्रयात्मकात्मचिन्तनं तेन स्नानं जलक्षालनं तस्यानुबन्धः प्रबन्धस्तस्मात् । नहि नैव पुनर्भवति । को ? भवाभावः । केषाम् ? नृणाम् । किं भूतानाम् ? याचितानाम् । कां ? तीरिणीम् नदीम् । किंभूताम् ? अपरां जलात्मिकाम् । क्व ? सत्यतीर्थे सत्यं प्रतिगृहीतभावनिर्व्वाहावितथवचनं तीर्थं तीर्यते संसारसरिद् येन तत् तीर्थं श्रुतमर्हताम्, तस्मिन् । कस्या ? मतिसुरसरितः मतिरप्राप्तार्थ ग्राहिणी सैव सुरसरित् देवनदी तस्याः । किंभूतायाः ? वैराग्यापारवारेः वैराग्यं संसार-शरीरभोगोपभोगनिर्व्वेगः तदेवापारवारि, अपारमलभ्यतट वारि पानीयं तदस्यास्तीति तस्याः । भूयः किंभूतायाः ? प्रशमदमदयोदीर्णं मार्गत्रयायाः प्रशमः रागादिकारणसंपातेऽपि रागाद्यनुदयः, दमः इन्द्रियाणां रूपादिविषयाप्रवृत्तिः, दयादुःखोपदिग्धप्राणिगणानुकम्पा, ता एव उदीर्णाः महान्तः मार्गाः पन्थानस्तेषां त्रयं तद्विद्यते यस्याः सा तस्याः ।

भूयः किंभूतायां ? सम्यग्ज्ञानोन्मदोर्म्मेः सम्यग्ज्ञानं संशयविपर्ययानध्यव-सायव्यवच्छेदेन जीवादितत्त्वार्थाध्यवसानं तदेव उन्मदा उत्कटा ऊर्म्मिः कल्लोलमाला सास्या अस्ति तस्याः। हिमाचलचूलिकाचलनकेदारगिरि-शिखरोपनिपातप्रयागत्रिशूलान्त्रान्दोलनादिभिः शरीरायासकारणैः भव-भूरुहा लवालायमानैः जलात्मकजलवाहिनीजलस्नानैः तत्संवर्द्धनकारैः जलजातजन्तुजातहिंसनस्वभावैः न भविनां जन्मसन्ताननाशः। किन्तु सम्यग्ज्ञानोल्लोलकल्लोलमालिन्याः चरणचक्रवाय चारिण्याः मतिमन्दा-किन्याः तीर्थवासिनां शुद्धात्मानुचिन्तनानां क्षालनविगलत्कर्ममलोपलेपा-नामेव मानवानां जननव्रतती तीव्रोन्मूलिततला भवतीति बंभणितवृत्त तात्पर्यार्थः ॥१३॥

आगे प्रज्ञा रूपी गंगा नदी के तट पर स्थित रहने वाले मनुष्य ही ध्यान रूपी स्नान के प्रभाव से संसार का उच्छेद कर सकते हैं अन्य नदियों के तट पर स्थित रहने वाले मनुष्य नहीं···यह कहते हुए ध्यान का महात्म्य बतलाते हैं।

'जिसमें वैराग्य रूपी अगाध जल भरा हुआ है, जो प्रशम दम और दया इन तीन मार्गों—प्रवाहों से वह रही हो, और जिसमें सम्यग्ज्ञान रूपी उत्ताल तरंगें उठ रही हैं, ऐसी प्रज्ञा—भेद-विज्ञान रूपी गंगा नदी के वास्तविक तीर्थ–घाट पर स्थित मनुष्यों के ही ध्यान रूपी स्नान के सम्बन्ध से जन्म मरण रूप संसार का उच्छेद होता है; क्योंकि उन्हीं के हृदय से समस्त मल दूर होते हैं और वे ही संतोष को प्राप्त होते हैं। अन्य नदियों की याचना करने वाले मनुष्यों का संसारोच्छेद नहीं होता।'

विशेषार्थ—लोक में प्रसिद्धि है कि गंगा नदी में स्नान करने से मनुष्यों का संसार छूट जाता है—मुक्तावस्था प्राप्त

हो जाती है 'गंगास्नानान्मुक्ति।' इसी प्रसिद्धि को ध्यान में रखते हुए आचार्यदेव यहां रूपकालंकार से वर्णन करते हैं कि जिस गंगा में स्नान करने से मुक्ति होती है वह गंगा प्रज्ञा भेद-विज्ञान रूपी गंगा है। इस प्रज्ञा रूपी गंगा में वैराग्य रूपी जल भरा हुआ है। संसार शरीर और भोगों से उदासीनता होना वैराग्य कहलाता है। जहां यह प्रत्यय हुआ कि मैं सच्चिदानन्द रूप पृथक् हूँ और संसार के प्रत्येक पदार्थ पृथक् हैं वहां संसार शरीर और भोगों से उदासीनता स्वयं ही प्रकट हो जाती है। लौकिक गंगा का नाम त्रिमार्गगा है क्योंकि वह ऊर्ध्व मध्य और पाताल में वहने वाले तीन प्रवाहों में बही है; यहां आचार्यवर्यने इस प्रज्ञा रूपी गंगा के प्रशम, दम और दया ये तीन मार्ग वतलाये हैं। राग द्वेष के कारण मिलने पर भी राग द्वेष नहीं होना प्रशम कहलाता है। स्पर्शनादि पांचों इन्द्रियों की स्पर्शादि विषयों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना दम कहलाता है और दुःखी प्राणियों का दुःख दूर करने की इच्छा होना दया कहलाती है। जिस प्राणी के हृदय में प्रज्ञा—भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है उसके प्रशम दम और दया रूप प्रवृत्ति अपने आप हो जाती है। जिस प्रकार लौकिक गंगा नदी में पवन के आघात से अनेक लहरें उठा करती हैं उसी प्रकार इस प्रज्ञा रूपी गंगा नदी मे जीवाजीवादि पदार्थों के सम्यग्ज्ञान रूपी अनेक लहरें उठती रहती हैं। जो मनुष्य इस प्रज्ञा रूपी गंगा नदी के तट पर स्थित हैं उनका हृदय अत्यन्त निर्मल हो जाता है—शङ्का कांक्षा विचिकित्सा आदि दोष

उनके हृदय से दूर हो जाते हैं और उनकी आत्मा में स्वानुभूति के प्रकट हो जाने से बहुत भारी संतोष उत्पन्न हो जाता है। वे विचार किया करते हैं कि मेरी आत्मा स्वयं अनन्त सुख का भंडार है, पर पदार्थों से सुख की आकांक्षा करना बालू से तेल निकालने के समान है। ऐसे मनुष्यों का ध्यान बाह्य पदार्थों से हट कर शुद्धात्मस्वरूप में स्थिर रहने लगता है, और वे क्रम से घातिया कर्मों को नष्ट कर अर्हन्त अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तथा कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक देशोन कोटि वर्ष में अपने जन्म मरण रूप संसार का उच्छेद अवश्य ही कर देते हैं। जो मनुष्य अन्य नदियों से संसारोच्छेद की याचना करते हैं उनका मनोरथ पूर्ण नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

ज्ञानादन्यस्यज्ञेयस्यासंभवो, ज्ञानमेवज्ञेयमिति तद्ग्राहक प्रमाणसद्भावात्। तथाहि ज्ञानं ज्ञेयात्मकमेव (प्रतिभासमानत्वात्। यत्) प्रतिभासते तज्ज्ञानं यथासुखादि, अवभासते चाक्षयस्वभावं विश्वं तस्माज्ज्ञानात्मकमेवेति विज्ञानमेवलक्ष्यं प्रतिपद्यन्ते विज्ञानाद्वैतवादिनः तान् निराचिकीर्षवो लक्ष्यमित्य दि रंरणन्त्याचार्याः—

लक्ष्यं त्रैलोक्यमर्थोऽस्य [1]मुहुरवयवः पर्ययस्तस्य कश्चित्
यच्चित्तस्याग्रनासानयननिलयने रूपकेऽणुस्ततो हृत्।
स्वं ध्यानी तद्विसृज्य प्रविश(स)रणवशाज्जन्मबीजं पिनष्टि
स्वस्मिंस्तत्सर्वसत्वोत्सवकरचरितश्चैकमासीद्ध्यानः ॥१४॥

आसीत् संजातम्। किम्? लक्ष्यं परिच्छेद्य मालम्बनम्। कस्य? यस्य चित्तस्य यच्चेतसः। किम् त्रैलोक्यं त्रिशत त्रिचत्वारिंशव-

१. पुनरवयवः त०।

धिकचतुर्दशरज्जुप्रमाण घनैकाकारोत्सेधोर्ध्वमध्याधोभेदभिन्नमुरजझल्लरी-वेत्रासनाकारामरासुरनरनारकतिरश्चामाधिवासभवनं त्रिभुवनम्। पुनः किंभूतम्? एकम् एकसंख्यम्। भूयः किम्? अवयवो भुवनावयवः। मुहुः किम्? तस्यावयवस्य कश्चिदविवक्षितः पदार्थोजीवादिः। पुनरपि किं? पर्यायो विवर्तः। कस्य? जीवाजीवादेः। क्व? अग्रनासानयननि-लयने अग्रं प्रान्तं नासा नासिका नयनं लोचनं तयोर्निलयनं स्थानं तस्मिन्। किंभूते? रूपके रूपिस्वभावे। को? अणुः परमाणुः। कुतः? ततो हृत्। तस्मात्कस्मात्? अग्रनासानयननिलयनहरणात्। पश्चात् किं करोति? पिनष्टि चूरयति। किम्? जन्मबीजं जननं तत्प्ररोहहेतुः। को? ध्यानी। किं भूतः? आदधानो धारयमाणः। कम्? स्वम् आत्मानम्। कस्मिन् स्वस्मिन्नात्मनि। किं कृत्वा? विसृज्य त्यक्त्वा। किं तत्? त्रैलोक्यादिलक्ष्यम्? कस्मात्? प्रविसरणवशात्। प्रविसरणं चलनं वशः आपत्तः प्रचारायत्तात्। भूयः किंभूतः? सर्वसत्त्वोत्सवकरचरितः सर्वे समस्ताः ते सत्त्वाः जीवाः तेषाम् उत्सवः आनन्दस्तत्करोतीति तत्करं चरितमनुष्ठानं यस्य सः। त्रिभुवनैकभुवनावयवतत्पदार्थपर्ययलक्षण-लक्ष्यस्य अनादिसिद्धत्वं सदवबोधकप्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणपञ्चककुग्रहगृहो-ताहंत्सर्वज्ञाप्तोक्तत्वेन प्रमाणग्राह्यत्वादिति तत्तल्लक्ष्यतामुपनीय मनसि नयननासान्तराला नुगमनात्पश्चात्तदखिलंपरित्यज्यात्मानमात्मनि व्यव-स्थापयन्तः योगीश्वराः सकलजनानन्दोत्पादनचारुचरिताः भवांकुरकारण-पिंषन्तीति परिकलितार्थवृत्तसंकलितार्थः ॥१४॥

आगे ध्यान का विषय बतलाते हुए आत्म-ध्यान का फल प्रकट करते है—

'जिसमे नासा के अग्रभाग पर नेत्र स्थिर हो जाते हैं, ऐसे ध्यान के समय जिसके चित्त का विषय प्रारम्भ में तीन लोक रहता है, फिर घटकर लोक का अवयव भूत कोई जीवादि

पदार्थ रह जाता है, फिर घट कर उसकी कोई एक पर्याय रह जाती है, फिर उससे भी घट कर पुद्गल द्रव्य का परमाणु रह जाता है। और अन्त में चञ्चलता का कारण समझ उस परमाणु को भी छोड़ कर जो एक अपनी आत्मा को ही अपनी आत्मा में धारण करता है वह समस्त जीवों के लिये आनन्ददायी चरित को धारण करने वाला महायोगी ही संसार के बीज को नष्ट करता है।'

विशेषार्थ—ध्यानी मनुष्य पद्मासन अथवा कायोत्सर्गासन से अवस्थित होता है, वह अपनी दृष्टि को सब ओर से हटाकर नासा के अग्रभाग पर स्थिर करता है; क्योंकि ऐसा करने से उसका चञ्चल मन किसी एक पदार्थ में स्थिर होने लगता है। प्रारम्भ में ध्यानी मनुष्य अपना चित्त तीनसौ-तेतालीस घनरज्जु प्रमाण त्रिभुवन में स्थिर करता है अर्थात् तीन लोक के स्वरूप का चिन्तवन करता है, पश्चात् अपने उपयोग को स्वोन्मुख करने की दृष्टि से त्रिभुवन का ध्यान छोड़ कर उस का अवयव भूत जो जीवादि पदार्थ है उसे अपने ध्यान का विषय बनाता है, तदनंतर उस जीवादि पदार्थ की त्रिकाल विषयक अनन्त पर्यायों में से किसी एक पर्याय पर अपना उपयोग स्थिर करता है, पश्चात् विषय को और भी सूक्ष्म करता हुआ पुद्गल द्रव्य के परमाणु को ध्यान का विषय बनाता है अर्थात् परमाणु के आकार, गुण तथा अविभाग प्रतिच्छेद आदि का विचार करता है। तदनन्तर विचार करता है कि इन बाह्य पदार्थों में चित्त की स्थिरता करने से क्या लाभ है? आत्म-

स्वरूप में ही चित्त को स्थिर करना चाहिये ऐसा विचार कर वह परमाणु से भी अपने हृदय को हटा लेता है और अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में ही धारण कर लेता है । उस समय उसका उपयोग सर्व प्रकार से स्वोन्मुख हो जाता है । शुद्धात्म-स्वरूप में लीन होने के कारण उसके सन्निधान मात्र से समस्त जीव आनन्दनिमग्न हो जाते है, परस्पर का वैर-विरोध भूलकर सब प्रेम से हिलमिल जाते हैं । आचार्य कहते है कि इस प्रकार के ध्यानी मनुष्य ही संसार के बीज को नष्ट करते हैं अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर जन्म-मरण के अनन्त दुःखों से विमुक्त हो जाते हैं ।। १४ ।।

यद्ध्यानात्दुध्यानाद्धि मेरुमूलस्थित गोस्तनाकारानुकारिप्रदेशान् विहाय चराचर त्रिभुवनोदरे नित्येतरनिगोदविकलकरणसमनस्कामनस्कपञ्चाक्ष-तिर्यङ्मूर्च्छनजन्मिनां, यस्माच्च रत्नप्रभादितमस्तमः प्रभान्ताश्रितातिशीत-वातोष्णप्रबन्धसहजमानस क्षेत्रोत्पन्नान्यूनान्योऽन्योदीरितासातसंक्लि-ष्टासुरोदीरितदुःखसीमन्तरौरवश्वभ्रविवरेषु हुण्डसंस्थाननपुंसकविकृति नारकेषु भवति प्रादुर्भावो भविनाम्, यतो हि कल्पाकल्पोपकल्पितसौधर्मादि सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तभर्मभित्तिभास्वर रत्नोद्योतद्योतितारापथ दिगन्तरा-लामानविमानेषु उपपादिकोत्पादभवप्रत्ययावधिबोधप्रबुद्धबन्धुरबोध्यसहा-विर्भूतप्रालम्बकुण्डलकटककेयूरहाराङ्गदादिषोडशभूषणभूषिताऽणिमादि - गुणाष्टकोपेतदिव्यदेहसौन्दर्यावलोकनोर्जितवृन्दारकवृन्दवदनोदीर्णाशीर्वाद - मुखरदेवाङ्गनाकलकलोच्छलद्हलमङ्गलालापोद्भूतामन्दानन्दमोद-मानसम-न्दारमालालीनालिकुलाकुलितकिरीटतटाः दिवि देवाः संपनीपद्यन्ते देहिनः (यतश्च) अनन्तचतुष्टयात्मकसम्यक्त्वाद्यष्टगुणोपेताव्याबाधत्वशिवाक्षयसू-क्ष्मशुद्धात्ममात्रतन्त्रो मोक्षो जंजन्यते जन्तूनामिति तद्ध्यानं किं संक्षं

किं स्वरूपं कुतो वा जायत इति शिष्येण पृष्टा इव सूरय एकमित्याचक्षते—

एकं चिन्तानिरोधात्पुनरिदमुभयं ध्यानमान्तर्मुहूर्तं
सद्भूयोऽदश्चतुर्धा पुनरिदमपरे षोडशांशं ध्वनन्ति ।
तिर्यक्स्वभ्रश्च मोक्षप्रदमवहिततोद्योग साम्येऽपि धर्म्यं
धूमध्वान्तस्वभावात्तदपि दशविधं वह्निभानुक्रमेण ॥१५॥

स्याद् भवेत् । किम् ? ध्यानम् । किंसंख्यम् ? एकम् । कस्मात् ? चेतोनिरोधात् चिन्तावरोधात् । कुतः ? उत्तमसंहननमाद्यं त्रिसंहननम् । किं तत्त्रयम् । वज्रवृषभनाराच संहननं वज्रनाराच संहननम् । तस्या एकाग्रम् एकमग्रं मुखं यस्य । नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती तस्याः अशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्ता निरोध इत्युच्यते । अनेन ध्यानस्वरूपमुक्तं भवेत् । मुहूर्तमितिकालपरिमाणः । अन्तर्गतो मुहूर्त अन्तर्मुहूर्तः, आ अन्तर्मुहूर्त आन्तर्मुहूर्त्तः । ततः परं दुर्द्धरत्वादिति । चिन्ताया निरोधो यदि ध्यानं निरोधश्चाभावः तेन ध्यानमसत् खरविषाणवत् स्यात् । नैष दोषः, अन्यचिन्तापेक्षयाऽसदित्युच्यते स्वविषयाकारापेक्षया सदिति । भावान्तरस्वभावत्वात्सदभावस्य अथवा नायं भावसाधनो निरोधनं निरोधः । किं तर्हि ? निरुद्ध्यत इति निरोधः । चिन्ता सा चासौ निरोधश्च चिन्तानिरोधः । एतदुक्तं भवति ज्ञानमेवापरिस्पन्दमानमपरिस्पन्दाग्निशिखावद् भासमानं ध्यानमिति । भूयः किंभूतम् ? इदम् प्रत्यक्षीभूतम् । कथं पुनः ? पश्चादुभयं द्वयात्मकं शुभाशुभभेदात् । पुनः किम् ? अदः एतत् । कथम् ? चतुर्धा चतुर्भिः प्रकारैः आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लभेदात् । कथं भूयः ? पुनरपि मुहुः किं भूतम् ? षोडशांशम् षोडश अंशा भेदा यस्य । आर्त्तस्य चत्वारोभेदास्तथारौद्रधर्म्यशुक्लस्यापि तथैव । ध्वनन्ति कथयन्ति अपरे अन्ये आचार्याः । किं धर्म्यम् ? धर्मादनपेतं तत् । तत्किंप्रकारं ? दशविधं दशप्रकारम् । 'उत्तमक्षमामार्दवा-

र्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः' इति वचनात् । किं भूतं चतुर्विधं ध्यानम् ? तिर्यक्श्वभ्रद्युमोक्षप्रदम् । तान् प्रददातीति (प्रदम्) कस्मिन्नपि ? अवहिततोद्योगसाम्येऽपि अवहितता तस्यां उद्योग उद्यमः तस्य साम्येऽपि तुल्यतायामपि । कुतो ? यतो जनयति । किं तच्चतुर्विधं ध्यानम् ? आर्त्तरौद्ररूपं । यत् किम् ? ध्वान्तं धूमं यतस्तिर्यक्षूत्पन्नप्राणी अज्ञानात्मध्वान्तस्वभावो नारकेषु भवः अन्धकारः श्वभ्रधूमावृत्तः । नन्वेवम् । किं परम् ? अन्यद्धर्म्यंशुक्लरूपम् । किं तत् ? केन ? वह्निभानुक्रमेण अग्निभास्करस्वभावेन । कथमनेकस्यैक स्वभावता ? अनुध्यानसामान्यस्य सर्वत्राप्यविशेषादित्येकत्वं न विरुध्यते । सामान्यस्याशेषविशेषनिष्ठत्वादनेकार्त्तरौद्रादिभेदस्योपपत्तिरविरुद्धेति । ध्यानचतुष्टयस्यैकाग्रतातुल्यतायाम् तत्राद्योध्यानद्वयं तैरश्चीं नारकीं च गतिमुत्पादयति तनूभृतां तथाविधस्वभावत्वात् संध्याचित्रभानुध्वान्तधूमवत् । धर्मशुक्लस्वभावानुचिन्तनं दैवीं .शिवमयीं च गतिं प्रादुर्भावयति भव्यात्मनां शिशिररश्मिसहस्रकिरणाविव प्रकाशमिति प्रकाशितवृत्तसंहृत्यर्थः ॥१५॥

आगे ध्यान के स्वरूप, काल, भेद और स्वभाव का वर्णन करते हैं—

'किसी एक पदार्थ मे चित्त की गति के रुक जाने को ध्यान कहते हैं। यह ध्यान एक पदार्थ में अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है; क्योंकि उससे अधिक समय तक एक पदार्थ मे चित्त स्थिर नहीं रह सकता, नियम से चंचल हो उठता है। वह ध्यान सामान्य की अपेक्षा एक प्रकार का है। फिर शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। यही ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का है। इनमें से प्रत्येक के चार चार भेद होने से कोई आचार्य ध्यान के सोलह भेद कहते है।

यह आर्त्त आदि चार प्रकार का ध्यान क्रमशः तिर्यञ्च, नरक स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला है । जो धर्म से सहित होता है उसे धर्म्यध्यान कहते है वह उत्तम क्षमा आदि के भेद से दश प्रकार का है । यद्यपि इन चारों ध्यानों मे चित्त की स्थिरता का उद्योग एक समान रहता है तो भी आर्त्तध्यान धूम के समान है, रौद्रध्यान अन्धकार के समान है, धर्म्य ध्यान अग्नि के समान है और शुक्ल ध्यान सूर्य के समान है ।'

विशेषार्थ—ध्यान का लक्षण प्रकट करते हुए उमास्वामी आचार्य ने कहा है 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात्' अर्थात् उत्तम संहनन के धारक जीव की अन्तमुहूर्त तक जो किसी एक पदार्थ में चित्त की गति रुक जाती है—स्थिर हो जाती है उसे ध्यान कहते हैं । उत्कृष्टता की अपेक्षा यह ध्यान उत्तम संहनन वाले जीव के ही होता है । उत्तम संहनन से आदि के तीन संहननों—वज्रर्षभनाराच संहनन से, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन का ग्रहण होता है । इस सूत्र में ध्यान का लक्षण, ध्यान का स्वामी और ध्यान का काल इन तीन बातों का निरूपण किया गया है । सामान्य की अपेक्षा से यह ध्यान एक ही प्रकार का होता है, फिर शुभ और अशुभ की अपेक्षा से दो प्रकार का होता है अशुभ ध्यान अशुभ गति का कारण है और शुभ ध्यान शुभ गति—स्वर्ग और मोक्ष का कारण है । अशुभ ध्यान आर्त्त और रौद्र के भेद से दो प्रकार का है और शुभ ध्यान धर्म्य तथा शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है; इसप्रकार दोनों को मिला देने पर ध्यान चार

प्रकार का हो जाता है। आचार्यवर्य उमास्वामी ने इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज, वेदनाज और निदानज के भेद से आर्त्त ध्यान के चार भेद बतलाये हैं। इष्ट पदार्थ का वियोग हो जाने पर उसके संयोग के लिए चित्त की जो स्थिरता होती है उसे इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान कहते है। अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए चित्र की जो स्थिरता होती है उसे अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान कहते हैं। किसी व्याधि आदि से होने वाली वेदना को दूर करने के लिए चित्त की जो स्थिरता होती है उसे वेदनाज अर्त्तध्यान कहते है और भविष्य में भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त करने के लिए चित्त की जो स्थिरता होती है उसे निदानज आर्तध्यान करते हैं। हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी के भेद से रौद्रध्यान के भी चार भेद बतलाये हैं। किसी शत्रु आदि के हिंसा करने के लिए चित्त की जो स्थिरता होती है वह हिंसा-नन्दी रौद्रध्यान है। असत्य बोलने के लिए चित्त की जो स्थिरता होती है उसे मृषानन्दी रौद्रध्यान कहते हैं। चोरी के लिए जो चित्त की स्थिरता है उसे चौर्यानन्दी रौद्रध्यान कहते हैं और धनधान्यादि परिग्रह के अर्जन तथा रक्षण में चित्त की जो स्थिरता होती है उसे परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान कहते हैं। आज्ञा विचय, अपाय विचाय, विपाक विचय और संस्थान विचय के भेद से धर्मध्यान के चार भेद हैं। असत्य कथन के मुख्य कारण कषाय और अज्ञान है। जिनेन्द्र देव के मोहनीय-कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से कषाय का अभाव हो गया है और ज्ञानावरण

कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से केवलज्ञान प्रकट हो गया है अतः उनके न कषाय है और न अज्ञान ही। फलतः उन्होंने जिन सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का निरूपण किया है वह यथार्थ है और आज्ञा मात्र से ग्राह्य है, इस प्रकार विचार करते हुए परमागमपुणीत पदार्थ मे जो चित्त की स्थिरता होती है वह आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान है। चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करने वाले जीवों के दुःखों का चिन्तवन करते हुए उनमें जो चित्त की स्थिरता होती है उसे अपाय-विचय धर्म्यध्यान कहते है। ज्ञानावरणादि आठ मूलकर्मो तथा उनके मतिज्ञानावरणादि उत्तरभेदो के विपाक का—फल का चिन्तवन करते हुए उसमे जो चित्त की एकाग्रता हो जाती है वह विपाक-विचय नाम का धर्म्यध्यान है, और तीन लोक तथा तत्तत् लोक सम्बन्धी विभिन्न अंशों का विचार करते समय उनमें जो चित्त की गति रुक जाती है—स्थिर हो जाती है उसे संस्थान-विचय धर्म्यध्यान कहते हैं। पृथक्त्व-वितर्क वीचार एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती और व्युपरत-क्रियानिवर्ती के भेद से शुक्लध्यान के भी चार भेद हैं। वितर्क शब्द का अर्थ श्रुत–शास्त्र होता है और वीचार का अर्थ—अर्थ, व्यञ्जन-शब्द और योग का संक्रमण है। जिसमें शास्त्र के किसी शब्द अथवा अर्थ को लेकर मन वचन काय से चिन्तन करते हुए उपयोग की स्थिरता होती है उसे पृथकत्व-वितर्क वीचार शुक्लध्यान कहते हैं। यह तीन योगों से होता है और अपूर्वकरण गुण-स्थान से लेकर उपशान्तमोह गुण-स्थान तक रहता है। इसके प्रभाव से मोहनीयकर्म का

उपशम अथवा क्षय होता है, कषाय का अभाव हो जाने से जिसमें अर्थ, व्यञ्जन और योगों की संक्रान्ति छूट जाती है। तीन योगों में से किसी भी एक योग के द्वारा आगम के किसी भी शब्द अथवा अर्थ को लेकर जो उपयोग की स्थिरता होती है उसे एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहते है। यह बारहवें क्षीण-मोह गुणस्थान मे होता है। इसके प्रभाव से अवशिष्ट तीन घातिया कर्मो का क्षय होकर अर्हन्त अवस्था की प्राप्ति होती है। बारहवें गुणस्थान के बाद मनोयोग का अस्तित्व नहीं रहता। केवल वचनयोग और काययोग का अस्तित्व रहता हैं। जब तेरहवे गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्तमात्र काल बाकी रह जाता है तब वचनयोग नष्ट हो जाता है, केवल काययोग रह जाता है और धीरे धीरे वह काययोग भी सूक्ष्म होता जाता है। इस प्रकार जब केवल काययोग की सूक्ष्म अवस्था अवशिष्ट रह जाती है तब सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती नामका तीसरा शुक्लध्यान प्रकट होता है। इसके प्रभाव से जिनेन्द्रदेव के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। अन्तर्मुहूर्त तक यह अवस्था रहने के बाद धीरे धीरे सूक्ष्म काययोग भी नष्ट हो जाता है, पूर्ण अयोग अवस्था प्रकट हो जाती है। उस समय व्युपरत-क्रियानिवर्ती नाम का चौथा शुक्लध्यान प्रकट होता है। इसके प्रभाव से उपान्त्य समय मे ७२, और अन्त्य समय में १३ इस प्रकार ८५ प्रकृतियों का क्षय होकर लघुअन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार चारों ध्यानों के चार चार ध्यान मिलाने से ध्यानके सोलह भेद होते हैं ऐसा कितने ही आचार्यों ने निरूपण किया है।

आर्तध्यान तिर्यञ्च गति का कारण है, रौद्रध्यान से नरकायु का बन्ध होता है, धर्म्यध्यान देवायु का कारण है और शुक्लध्यान मोक्ष का कारण है। धर्म्यध्यान के उक्त चार भेदों के सिवाय उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश भेद और हैं। क्रोध कषाय का निमित्त मिलने पर भी हृदय में कलुषता की उत्पत्ति नही होना उत्तम क्षमा है। मान का निमित्त रहते हुए भी ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ वस्तुओ का अहंकार उत्पन्न नहीं होना उत्तम मार्दव है। छल-कपट का अभाव होना सो उत्तमआर्जव है। लोभ कषाय पर विजय प्राप्त कर संतोप धारण करना उत्तम शौच है। कषाय के वशीभूत होकर असत्य भाषण नहीं करना सो सत्य धर्म है। पांच स्थावर और एक त्रस इस प्रकार छहकाय के जीवों की हिंसा नहीं करना तथा पांच इन्द्रियों और मन को वश में रखना सो उत्तम संयम है। बढ़ती हुई इच्छाओं का निरोध कर अनशन, ऊनोदर आदि बाह्य तपों का तथा प्रायश्चित्त आदि अन्तरङ्ग तपों का धारण करना उत्तम तप है। कीर्ति तथा प्रत्युपकार की वाञ्छा न रख कर आहार-औषधि-शास्त्र तथा अभय...ये चार प्रकार के दान करना सो उत्तम त्याग धर्म है। समस्त परिग्रह का त्याग कर मूर्च्छा रहित होना सो उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है और स्त्री मात्र का त्याग कर शुद्धात्म स्वरूप-ब्रह्म में चरण करना-रमण करना-लीन रहना सो उत्तम

ब्रह्मचर्य धर्म है।

यद्यपि इन आर्त, रौद्र आदि सभी ध्यानों में चित्त की स्थिरता की समानता है तो भी फल की विभिन्नता से इनमें विभिन्नता सिद्ध होती है। आर्त ध्यान का स्वभाव धूम के समान है इससे तिर्यञ्च आयु का बन्ध होता है। रौद्र ध्यान का स्वरूप अन्धकार के समान है इससे नरकायु का बन्ध होता है। धर्म्यध्यान का स्वभाव अग्नि के समान है इससे अन्तरात्मा में प्रकाश होना है तथा कर्मों की निर्जरा होती है और शुक्लध्यान सूर्य के समान है इससे लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त होता है और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

मिथ्यात्वतमःस्तोमतिरस्करणतरणतरणिभिः सम्यग्दर्शनाद्यमलरत्नरत्नाकरैः विशदस्याद्वादकुमुदसन्दोहमोदनसोमदेवैः सोमदेवसूरिभिश्चेतोनिरोधलक्षणं ध्यानं पूर्ववृत्तेऽभिहितं तद्व्याख्यातुकामैरेकत्रस्थैर्यसारेत्युदीरितम्—

एकत्र स्थैर्यसारा मतिरभिलषिते चञ्चला वस्तुतत्त्वे
ध्यातुं व्यावर्त्य चित्तं विविधनयमनुप्रेक्षणं चिन्तनं [1]तत् ।
संप्रश्नो भावना वा श्रुतविदित पदालोचनं स्थापना वा
ध्यानाधीना अमी तत् समभिदधुरघौघादनं ध्यानमीशाः ॥१६॥

समभिदधुः उक्तवन्तः। के ? ध्यानाधीनाः ध्यानाधिनायकाः। अमी प्रत्यक्षीभूताः। किं तत् ? ध्यानम् एकद्विचतुः षोडशदशभेदं यत्। सा का ? या मतिः बुद्धिः ? किं विशिष्टा ? स्थैर्यसारा स्थिरतरा अचलेत्यर्थः।

---

१. धु० त०।

क्व ? एकत्र एकस्मिन् वस्तुतत्त्वे । वस्तु जीवादि तस्य तत्त्वं अलक्षणं तस्मिन्...किंभूते ? अभिलषिते । ध्यातुं वाञ्छितुं व्यावर्त्य शुभाशुभाविर्भाव स्वभावाभिरामानभिरामभामिनीकुम्भीनसादिभ्यः । किम् ? तत् चित्तम्, तत् प्रसिद्धम्, चेतोऽनुध्यानम् । का ? या मतिर्धिषणा । किंभूता ? चञ्चला-चलात्मिका । कदाचित् त्रिभुवनमभिभ्राम्यति । कदाचिद् द्रव्यमवगाहते कदाचिच्च चिदचिद्रूपं पर्यायं चेतयत इत्यर्थ. । कथ नु पुनः न केवलं चित्तं, किं तु भावना वा मुहुर्मुहुः तत्त्वर्थपरामर्शनमेव किन्तु विविविधनयमनु-प्रेक्षणमवलोकनम् । किं भूतं विविधनयम् । विविधा नानाप्रकारा द्रव्या-र्थिक पर्यायार्थिकभेदास्ते च ते नयाश्च । नीयते । निश्चीयते नित्या-नित्यात्मकमेव वस्तु यैस्ते नयाः । ते विद्यन्ते यस्मिन् तत् । न केवलं किंतु चिन्तनं पिण्डरूपस्थादिरूपतया पुनः पुनः पर्यालोचनमेव । न परं किं तर्हि संप्रश्नः पदस्थस्वभावोऽन्तर्जल्पात्मकोऽहंमित्यादिपदाभ्यासः । ना सहायः किं संश्रयः आश्रयः ? अर्हद्रूपात्मकत्वेनात्मनः परिणामः । न (केवलं) किं नु ? श्रुतविदितपदालोचनं श्रुतं द्वादशाङ्गादिशास्त्रं, श्रुते विदितानि विज्ञातानि तानि च पदानि णमो अरहंताणमित्यादीनि तेषामालोचनं दर्शनस्मरणमित्यर्थः । न परम् अपितु ख्यापना वा कथनैव । ध्यानसन्ता-नात्मकत्वेन एकस्मिश्चेतनाचेतनात्मके पदार्थे ध्रौव्यात्मिका बुद्धिर्ध्या-नम् । अपरस्या ध्रुवाध्रुवाधिकरणधिषणाया भावनाचिन्तनानुप्रेक्षणध्या-नाभिधानादिति विचारितार्थवृत्तसंतानार्थः ॥१६॥

आगे ध्यान के इसी स्वरूप को विस्तार से कहते है—

इष्टानिष्ट पदार्थों के ध्यान से चित्त को हटाकर किसी एक अभिलषित पदार्थ मे इस चञ्चल बुद्धि—मनोगति को स्थिर करना, अनेक नयों के साथ वस्तुस्वरूप का अवलोकन करना, पिण्डस्थ, पदस्थ आदि रूप से वस्तुस्वरूप का बार बार पर्या-लोचन करना, संप्रश्न—अन्तर्जल्प रूप से 'अर्हन्' इत्यादि पदों

का अभ्यास करना, उसी की भावना करना, आगम प्रसिद्ध 'णमो अरहताणम्' आदि पदों का मनन करना और उन्हीं का कथन करना ''यह सब पाप समूह को नष्ट करने वाला ध्यान ही है, ऐसा ध्यान के अधिनायक श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।'

विशेषार्थ—संसारी प्राणी बाह्य पदार्थों को सुख दुःख का कारण मानता है इसलिये जिन पदार्थों के संसर्ग से कुछ दुःख का अनुभव होता है उन्हें अनिष्ट मान बैठता है। इन कल्पित इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के संयोग से चित्त में सदा चञ्चलता बनी रहती है और चूँकि चित्त की चञ्चलता ही ध्यान का बाधक है इसलिये ध्यान का अभ्यास करने वाले पुरुषों को सर्वप्रथम यह विश्वास रखना चाहिये कि सुख और दुःख आत्मा के स्वाभाविक वैभाविक गुण है। उनका आविर्भाव और तिरोभाव आत्मा में ही होता है। बाह्य पदार्थ तो निमित्त मात्र पड़ते हैं अत. उनके संयोग-वियोग मे हर्ष विषाद नहीं करना चाहिये। इस प्रकार बाह्य पदार्थों से चित्त को हटाकर त्रिभुवनगत किसी भी वस्तु-तत्त्व मे अपनी चञ्चल बुद्धि को स्थिर करना ध्यान है। यह त्रिभुवन रूप ससार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों से अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों से समन्ताद् भरा हुआ है। संसार के ये सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिलक्षण से युक्त है। ध्यानाभिलाषी मनुष्य इनमे से जिस किसी पदार्थ का ध्यान करना चाहता हो उस पर अपनी बुद्धि को स्थिर करे। उसका ऐसा करना ध्यान का एक प्रकार है।

वस्तु के एक देश को निरुपण करने वाला श्रुत का प्रकार नय कहलाता है। उसके द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, निश्चय, व्यवहार तथा नैगम, संग्रह आदि अनेक भेद हैं। इन विविध नयों द्वारा वस्तु स्वरूप का दर्शन करना भी ध्यान है। पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि के द्वारा जिनमुद्रा आदि का ध्यान करना भी ध्यान है। विभिन्न प्रकार के मन्त्रों तथा आगम निरूपित पदों का पुनः पुनः चिन्तन करना, उनकी भावना रखना और उनका कथन आदि करना···यह सब ध्यान है क्योंकि इन सभी में चित्त की स्थिरता अपेक्षित रहती है। यह ध्यान पाप-पुञ्ज को जलाने वाला है—कर्म-निर्जरा और कर्म-क्षय का साक्षात् कारण है ॥ १६ ॥

सकलकालकलाकलनकलैः किल लोकालोकावलोकिकैवल्यकलैः सकलज्ञैरनेकसमयावलिकादिरूपः कालः संकलितोऽस्ति। तथाहि अणोरण्वन्तरव्यतिक्रमविभागरूपः समयः। असंख्यातसमयैरावली, संख्यातावलिसमूहैतच्छ्वासः, सप्तोछ्वासैः स्तोकः, सप्तस्तोकैर्लवः कथितः, सार्द्धष्टत्रिंशल्लवाभिः(वैः) घटिकाप्रमा। द्विघटीको मुहूर्त्तो (ऽन्तर) मुहूर्तस्तु समयविकलः सोऽपि हि भिन्नमुहूर्तस्ततो नियतम्। अन्तर्मुहूर्तस्त्वनेकविधः दिननिशीथिनीपक्षमासर्त्वयनसम्वत्सरप्रभृतिरिति। तत्रैतेषु मध्ये कियान् ध्यानस्य काल इति धीमता विनेयेनोक्ता इव कालोऽस्त्येत्युक्तवन्तः सूरयः—

कालोऽस्यान्तर्मुहूर्त्तः परम इह परः पञ्चलध्वक्षरः स्या-
च्चित्तानां दुर्धरत्वादतिचपलतया तत्परो नास्ति कालः।
तावन्मात्रेऽपि काले हुतभुगिव भवेत् ध्यानमुच्चैरघानां
ध्वंसायोर्वीधराणां ज्वलदचलतया वज्रसंपात जन्मा ॥१७॥

स्याद् भवेत्। कः ? कालोऽवधिभूतः। किंभूतः ? अन्तर्मुहूर्तः कोऽप-

मोहक्षः ? द्वयादि समयहीनद्विघटीकः कालोऽन्तर्मुहूर्तः । भूयः किंभूतः ? परमः उत्कृष्टः । कस्मिन् ? किमियानेव उतान्योऽपि ? अस्ति । कः ? परोऽन्यो जघन्यः । किं विशिष्टः ? पञ्चलघ्वक्षरः पञ्चलघ्वक्षरा यस्य स तथोक्तः । के अमी ? अ इ उ ऋ लृ रूपाः । उत्कृष्टापकृष्टरूपः इयानेव कालः । कस्य ? अस्यध्यानस्य । कुतः ? दुर्धरत्वात् । दुःखेन ध्रियते दुर्धरं तस्य भावः तस्मात् कृच्छ्रावरोधत्वादित्यर्थः । केषां चित्तानां चेतसाम् कया ? अतिचपलतया अतिचपलत्वेन । कुतो ? यतो मनो मर्कटवच्चलस्वभावम् । अभिरामरामारामेषु रमणाय रंरणतीति तस्मात् नास्ति न विद्यते । कः कालः । किं भूतः ? परो द्वितीयः प्रहरदिनरजन्यादिरूपः । किलैतावति काले कथं गुरुतरं कर्मराशिं नाशयति ध्यानमित्याहुः । तावन्मात्रेऽपि काले इति—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समयेऽपि स्याद् भवेत् । किं ? ध्यानं चिन्तनम् धर्म्मशुक्लस्वभावम् । किमर्थम् ? ध्वंसाय विनाशाय । कथम् ? उच्चैरित्यर्थः । केषाम् ? अघानां जन्मजन्मान्तरार्जितैनसः संचयानाम् । इव शब्दो यथार्थे यथा भवति विध्वंसाय । को ? हुतभुक् हव्यवाट् । किं भूतो ? वज्रसंपातजन्मा वज्रं पविस्तस्य संपातः ! संघट्टजन्योत्पत्तिः । दम्भोलिदलनोद्भूत इत्यर्थः । केषाम् ? उर्व्वीधराणाम् उर्वी भूस्तां धरन्तीति धराधराः (तेषाम्) कया ? ज्वलदचलतया ज्वलद्दीप्यमानमचलं स्थिरतरं तस्य भावस्तया भास्वरस्थिरतररूपेणेत्यर्थः । वासररजनीमासार्द्धमाससुरभि दक्षिणायनसमायुगावधिः ध्यानं धर्तुं न पार्यते । चलाचलात्मतयैकत्र स्थैर्यस्वभावेन चेतसो व्यवस्थापयितुं न शक्यतेरतोऽन्तर्मुहूर्तवधिकः कालो ध्यानस्योत्तमोऽन्योमातृकपञ्चवर्णोच्चारावसेयः । समयोऽनुत्तमः तावन्मात्रः समयः । संजातोऽपिधर्म्यशुक्लध्यानेद्धधूमध्वजो भवभवार्जित प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशतया राशीभूतानि कर्मेन्धनानि भस्मसाद्भावं प्रापयन्नेव यथा पुरन्दरप्रहरणप्रहारेण संपन्नोऽपांपितस्तृणराशिं भूतिस्वभावतां नयतीति निर्णीतवृत्तलात्पर्यार्थः ॥१७॥

आगे ध्यान का काल बताते हैं—

'इस ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है और जघन्य काल पांच लघ्वक्षरों के उच्चारण काल के बराबर है। यतः अत्यन्त चञ्चल होने के कारण चित्त अत्यन्त दुर्धर है–एक स्थान पर उसका रोका जाना कठिन है, अतः पूर्वोक्त प्रमाण से अधिक ध्यान का काल नहीं हो सकता। यद्यपि ध्यान का काल थोड़ा है तो भी वह उतने ही काल में चिरकाल संचित बहुत भारी पापों को उस तरह भस्म कर देता है जिस तरह वज्र से उत्पन्न हुई अग्नि अपने देदीप्यमान स्थिर स्वभाव से बड़े बड़े पर्वतों को भस्म कर देती है।'

विशेषार्थ—दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट का एक मुहूर्त होता है। एक आवली के ऊपर एक समय से लेकर एक समय कम दो घड़ी तक का काल अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। इसके असंख्यात भेद होते हैं। अपने अपने शारीरिक संहनन तथा अभ्यास के अनुसार मनुष्य का चित्त एक पदार्थ में अन्तर्मुहूर्त तक ही रुक सकता है, अतः ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त ही है। जघन्य काल 'अ इ उ ऋ ऌ' इन पांच लघु अक्षरों के उच्चारण काल के बराबर है जो कि चौदहवें गुणस्थान में होने वाले 'व्युपरत-क्रिया-निवर्ती' नामक शुक्लध्यान में संभव है। यह जघन्य काल भी अन्तर्मुहूर्त के भीतर गर्भित है।

ध्यान का बहुत थोड़ा समय है इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि इतने समय में क्या होगा ? यह ध्यान अल्प समय-वर्ती होकर भी इतना अधिक शक्तिशाली होता है कि कोटी कोटी जन्म में सचित किये हुए पापों को एक साथ नष्ट कर

देता है। वर्षा ऋतु में वज्र के गिरने से जो अग्नि उत्पन्न होती है उसका परिणाम यद्यपि अत्यन्त अल्प रहता है तो भी बड़े बड़े पर्वतों को ध्वस्त कर देती है। ध्यान की ऐसी ही कोई अद्भुत महिमा है ॥ १७ ॥

परमात्मोपदिष्ट दृष्टेष्टप्रमाणाविरुद्ध परमागमे त्रिविकल्प जननेनारोपितानेकविकल्पनवयोनिविकल्पानां पुण्यापुण्यनामकर्म्म निःपादितानि बन्धफलानुभवनाश्रयाणि पञ्चशरीराणि षट् संस्थानानि षट् संहननानि चतस्रो गतयः समनस्कामनस्करूपाः प्राणिनः। तथार्त्तरौद्रादि चतुर्ध्यानान्यभिहितानि वर्तन्ते। तत्र सर्व शरीर संहनन संस्थानगतिषु सकलप्राणिनां विश्वान्यपिध्यानानि सन्ति उत कस्मिंश्चिच्छरीरे क्वचिदेवसंहनन संस्थाने वा कस्यांचिदेव गतौकस्यचिदेव समनस्कप्राणिनः किञ्चिदेव ध्यानं भवतीति पूर्वपक्ष विवक्षादक्षेण दीक्षितेन बम्भणिता इव भदन्ता, विष्वक्संस्थानेत्यादि बंभणति—

विष्वक् संस्थानदेहे गतिषु चतसृषु प्राणिनि स्तः सहृत्के
सर्वस्मिन्नार्त्तरौद्रे विकलकरणके तत्र योगोपयोगः।
उत्कृष्टं धर्ममुक्तं यतिषु सुरपशुश्वभ्रिषण्ढावलानां
मर्त्येष्वन्येषु तद्वै दृशि निखिलविदश्चाप्यनुत्कृष्ट माहुः ॥१८॥

स्तः भवतः। के ? आर्त्तरौद्रध्याने। कस्मिन् ? प्राणिनि दशभिः प्राणैः श्वसिति स तस्मिन्। किंभूते ? सहृत्के समनस्के। मुहुः किंभूते ? सर्व्वस्मिन् श्वाभ्रतिर्यगमरमानवपर्यायभाजि। भूयः किंभूते ? विष्वक्संस्थानदेहे विष्वक् समस्तानि च तानि संस्थानानि आकाराणि (आकाराः) च तस्मिन् संस्थानानि षट् प्रकाराणि समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डल बल्मीककुब्जवामनहुण्डसंस्थानमिति। औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि पञ्चशरीराणि विशिष्टनामकर्मोदयापादित वृत्तीनि

शीर्यन्त इति। उदारं स्थूलं तस्मिन् भवं तत्प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम्। अष्टगुणाधिपत्यसम्बन्धावनेकाणु महच्छरीर विविधकरणं विक्रिया सा प्रयोजनमस्य वैक्रियकम्। सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयमपरिहरणार्थं प्रमत्तसंयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदाहारकम्। यत्तेजोनिमित्तं तेजसि भवं वा (तत्) तैजसम्। कर्मणां वा कार्यं कार्मणम्। कासु? गतिषु। कति संख्योपेतासु? चतसृषु नरकतिर्यङ्मानुषदेवगतिभेदाः। भूयः भवति। को? योगोपयोगः योगः कामेन्द्रियसम्बन्धः तस्योपयोगोऽनुभवः। कस्मिन्? तत्र तत्र क्वचिद् विकलकरणके विकलं हीनं करणमिन्द्रियं तद्विद्यते यस्य तस्मिन् द्वीन्द्रियादिचतुरिन्द्रियपर्यन्ते कृमिकीटचञ्चरीक इत्यर्थः। वीर्यान्तराय स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्द्धकोदये च शरीरनामलाभावष्टम्भेन द्वीन्द्रियादि जातिनामोदयवशवर्तितायां च स्पर्शनरसनाद्यैकैकेन्द्रियमाविर्भवतीति। उक्तं कथितम्। किम्? धर्म्यम्। किंभूतम्? उत्कृष्टमुत्तमम्। केषु? यतिषु व्रतिषु। आहुः प्रतिपादयन्ति। के? निखिलविदः सकलज्ञानिनः। किम्? तद्धर्म्यम्। किंभूतम्? अनुत्कृष्टं जघन्यम्। कासाम्? सुरपशुश्वभ्रिषण्ढाबलानाम् सुरादेवाः, पशुतिर्यक्, श्वभ्री नारकः, षण्ढो नपुंसकः, अबला स्त्री, तासाम्। न केवलमेतासाम् मर्त्येषु मानुषेषु किंभूतेषु? अन्येषु व्रतरहितेषु। कस्यां सत्यां? दृशि दर्शने सति। सकलकायसंस्थानस्थास्नोः चतुर्गति विवर्त्तवर्त्तिनः पंचेन्द्रियसंज्ञिनो जीवस्याशुभध्यानद्वैतं भवति। विकलाक्षेषु शङ्खशुक्तिकुन्थुमन्दविसर्पिणी खद्योतपतङ्गप्रभृतिषु स्वावरणक्षयोपशममिव घनं (ध्यानं) ज्ञानानुभवनमेव। उत्तमं तु धर्म्यध्यानं व्रतव्रातरत्नरत्नालंकृता पद्यमानानां व्रतिनामेव। अपकृष्टं पुनः। शुभध्यानं पण्डकपशुसर्वनरनारकेषु सति सम्यक्त्वे सम्भवतीति संभालितार्थवृत्तसमूहार्थः ॥१८॥

आगे ऊपर कहे हुए चार ध्यानों में से कौन ध्यान किस जीव के होता है यह बताते हैं—

आर्त्त और रौद्र ध्यान, चारों गतियों में छहों संस्थानों को धारण करने वाले सभी सञी जीवों के होते है, योग का उपयोग विकलत्रय जीवों के होता है, उत्कृष्ट धर्म्यध्यान मुनियों के होता है और जघन्य धर्म्यध्यान सम्यग्दर्शन के रहते हुए देव, पशु, नारकी, नपुसक, स्त्रियो तथा अन्य मनुष्यों के भी होता है… ऐसा समस्त तत्वों के जानने वाले सर्वज्ञ देव ने कहा है ।'

विशेषार्थ—यह संसार नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव इन चार गतियो से व्याप्त है। इनमे कोई जोव समचतुरस्रसंस्थान वाला है, कोई न्यग्रोध परिमण्डलसस्थान का धारक है, कोई स्वातिसंस्थान से युक्त है, और (कोई) कुब्जक सस्थान वाला है, कोई वामन संस्थान से युक्त है और कोई हुण्डक संस्थान का धारक है। कोई औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर का धारक है, कोई वैक्रियिक तैजस और कार्मण शरोर से युक्त है, कोई औदारिक आहारक तैजस और कार्मण शरीर से सहित है तथा कोई मात्र तैजस और कार्मण शरीर से युक्त है। कोई एकेन्द्रिय है, कोई द्वीन्द्रिय है, कोई त्रीन्द्रिय है, कोई चतुरिन्द्रिय है कोई असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय है और कोई संज्ञी पञ्चेन्द्रिय है। आर्त और रौद्र-ध्यान अशुभ ध्यान हैं, अत' वे चारो गतियों में सभव है परन्तु संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के ही होते है असंज्ञी के नहीं होते है। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय विकलत्रय कहलाते है। इनके ध्यान संभव नहीं है; क्योकि ध्यान का लक्षण चित्त की स्थिरता है और इनके चित्त होता ही नही है तब उसकी स्थिरता रूप ध्यान किस प्रकार हो सकता है ! इनके सिर्फ योग का उपयोग होता

है। काय और इन्द्रिय के संबंध को योग कहते हैं। वीर्यान्तराय, स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षुरिन्द्रिय मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम कर्णेन्द्रिय मतिज्ञानावरण के सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदय तथा शरीर और जाति नामकर्म का उदय होने पर इस जीव के स्पर्शन रसना आदि इन्द्रियां प्रकट होती हैं। धर्म्य-ध्यान उत्कृष्ट रूप से मुनियों के होता है और जघन्य रूप से चतुर्गति-सम्बन्धी सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है ऐसा सर्वज्ञ-जिनेन्द्रदेवने निरूपण किया है ॥१८॥

शुद्धाशुद्धाभिसन्धिप्रबन्धावधारणं बोधात्मनि बोधाधीश्वरधीरपि विधातुमक्षमेति। यस्योदये शरीरस्य निविडास्थिबन्धो भवति तत् संहनन नाम षड्विधम्। तथाहि वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराचार्द्धनाराचकीलिकासंप्राप्तासृपाटिका संहननानि। कर्मबन्धनिबन्धनं तद्विध्वंसनकारणं चतुर्विधं शुक्लध्यानञ्च बन्धमहाबन्ध सिद्धान्तेऽभिहितं। एवञ्च सति किं शुक्लध्यानं कस्मिन् संहनने संपद्यते कियन्तो कस्यात्मनः परिणामसन्ततिरिति परेण प्ररूपिता इव परमार्थवर्याः आद्यमित्यादि निरूपयन्ति—

आद्यं शुक्लं त्रिसंहत्युचिततनुविधावाद्य संहत्युपेते
विज्ञेयं तत्त्रयं स्यादितरदपि नरे क्वापि कालाद्यपेक्षम्।
कोऽधीशो मातुमेतां परिणतिमितरां कर्त्तुमानन्त्यक्लृप्ते-
स्तत्तद्बाह्यान्तरङ्गाश्रयविषयवशावेशभूयोऽवताराम् ॥१९॥

स्यात् भवेत्। किम्? शुक्लं शुक्लध्याम्। किंभूतम्? आद्यम् प्रथमम् पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्यम्। कस्मिन् त्रिसंहत्युचिततनुविधौ त्रिसंहतिः त्रिसंहननानि तैरुचितो योग्य स्तनुविधिरङ्गविधिर्यस्य तस्मिन् वज्रर्षभनाराच वज्रनाराच नाराचैः कृतकाये। विज्ञेयं ज्ञातव्यम्। किम्? तत्त्रयम् तेषां त्रयम् शुक्लध्यानत्रयम्। क्व? नरे मर्त्ये। किंभूते?

संहृत्युपेते पविऋषभ नाराचसंहननयुक्ते। किम् ? इतरदपि। अन्यदपि अग्रिमम्। कस्मिन् ? नरे। किंभूते ? क्वापि कस्मिंश्चिदपि कीलिकादि संहननवति। किंभूतम् ? कालाद्यपेक्षं। कालश्चतुर्थसमयः स आदिर्येषां द्रव्यक्षेत्रभावादीनां ते। तेषामपेक्षा यस्य तत्। पूर्व्वविदेहोत्पन्नविशुद्ध-लेश्याकीलितोपकल्पितकायस्यापि प्रथम संख्यं शुद्धध्यानं भवतीत्यर्थः। कोऽधीशः कः प्रभु न कोऽपि। किं कर्तुम् ? मातुं परिच्छेतुम्। काम् ? परिणतिम् विचित्रचित्तचेष्टाम्। किंभूताम् ? इतराम् अन्याम् पृथक् पृथग्भूतामन्याम्। किं भूताम् ? तत्तद्बाह्यान्तरङ्गाश्रय विषयवशावेश-भूयोऽवतारां तत्तत् प्रसिद्धंप्रसिद्धं तच्च तद् बहिर्भवं बाह्यं च। किम् ? क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यरूपम्। आन्तरंगं चान्तर्भवं मिथ्यात्ववेदरागाहास्याविकाश्च षड् दोषाः। चत्वारो हि कषायाश्चतु-र्दशाभ्यन्तरग्रन्थाः। ते आश्रयः स्थानं स चासौ विषयश्च तस्य वश आयत्तता तस्यावेशः प्रवेशस्तस्मात्। भूयः पुनः पुनरवतारोऽवतरणं प्रादु-र्भूतिर्यस्याः सा ताम्। कस्याः सकाशात् ? आनन्त्यक्लृप्तेः अनन्तपरि-कल्पनादित्यर्थः। त्रिसंहननोपहितसंहननो मनुजोऽपश्चिमं शुद्धध्यानमाधत्ते। उत्तरं तु शुभ्रध्यानकदम्बकमग्रिमोत्तमसंहृतिस्तनुमान्। कीलिकाकलित-कलेवरोऽपि चतुर्थकालपूर्वापरविदेहोत्पन्नसितलेश्योऽग्रतः सितध्यानमपि। अन्तरङ्गानन्तरङ्गरागः अङ्गाद्यभिषङ्गविषयायत्ततानुप्रवेशान्मुहुर्मुहुः पृथक् पृथगुत्पद्यमानां परिणाम प्रक्लृप्तिं प्रमातुं न कोऽपि प्रभुरिति प्ररूपितार्थ-वृत्तसमुदायार्थः ॥१६॥

आगे शुक्लध्यान के स्वामी का निरूपण करते हैं।

"पृथक्त्ववितर्क नाम का पहला शुक्लध्यान आदि के तीन संहननों के धारक मनुष्य के होता है। एकत्व वितर्क सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती नाम के तीन शुक्ल ध्यान प्रथम संहनन के धारक मनुष्य के ही होते हैं। प्रथम शुक्ल-

ध्यान कालादि की अपेक्षा कीलित संहनन के धारक मनुष्य के भी होता है। वास्तव में यह चित्तकी परिणति अनन्त प्रकार की है। बाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रह रूप आश्रय के वश यह पुनः पुनः प्रादुर्भूत होती रहती है इसे अपने अनन्त-विधपरिणमन से पृथक् कर, जानने के लिए कौन समर्थ है।'

विशेषार्थ—सोलहवें श्लोक के विशेषार्थ में शुक्लध्यान के चार भेदों का वर्णन कर चुके हैं। उनमें से पहला पृथकत्व-वितर्कविचार नामका शुक्लध्यान वज्रर्षभनाराच संहनन वज्र-नाराच सहनन और नाराच संहनन इन तीन संहननों मे से किसी एक संहनन के धारक जीव के होता है। यह ध्यान आठवे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। आठवे से दशवे गुणस्थान तक उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी इन दोनों श्रेणियों के धारक मनुष्य होते हैं। इन गुणस्थानों में जो क्षपकश्रेणी वाला मनुष्य होगा उसके नियम से वज्रर्षभ नाराचसंहनन होगा और जो उपशमश्रेणी वाला मनुष्य होगा उसके प्रथम तीन संहननों में से कोई भी एक संहनन हो सकता है। ऐसे मनुष्यों को ही लक्ष्य कर इस श्लोक में पहला शुक्लध्यान प्रथम तीन संहनन वाले जीवों के बतलाया है। एकत्व वितर्क आदि तीन शुक्लध्यान द्वादशादि गुणस्थानों में होते हैं। उन गुणस्थानों में रहने वाले मनुष्य नियम से तद्भव मोक्ष गामी होते हैं और तद्भव मोक्ष गामी मनुष्यों के नियम से वज्रर्षभनाराच संहनन होता है अतः अवशिष्ट तीन शुक्ल-ध्यान प्रथम संहनन के धारक मनुष्य के ही बतलाये हैं। इस

प्रकार ग्रन्थ कर्त्ता ने इस श्लोक में शुक्लध्यान के चार भेदों का जो स्वामित्व वर्णन किया है वह अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है परन्तु प्रथम शुक्लध्यान के स्वामित्व के विषय में कुछ विशिष्टता भी बतलाई है जो अभी तक अन्य ग्रन्थों में नहीं देखी गई। वह विशिष्टता इस प्रकार है—पृथकत्ववितर्क वीचार नामका पहला शुक्लध्यान चतुर्थ कालादि की अपेक्षा अन्य जीवो के भी हो सकता है। इस विशिष्टता का स्पष्टीकरण संस्कृत टीकाकार ने इस प्रकार किया है कि पूर्वापर विदेह में उत्पन्न विशुद्धलेश्या के धारक कीलितसंहनन वाले मनुष्य के भी कदाचित् प्रथम शुक्लध्यान संभव हो सकता है। क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दासादि दश बाह्य परिग्रह है और मिथ्यात्व, क्रोधादि चार कषाय तथा हास्यादि ९ नो कषाय ये १४ आभ्यन्तर परिग्रह हैं। इनका आश्रय पा कर चित्त की परिणति क्षण क्षण मे परिवर्तित होती है। इस प्रकार चित्रवृत्ति का यह परिणमन अनन्त प्रकार का हो जाता है, चित्तवृत्ति का यह अनन्तविध परिणमन प्रत्येक संसारी प्राणियों के होता रहता है। जिन प्रत्यासन्ननिष्ठ—निकट संसारी प्राणियों का उक्त परिग्रह कम हो गया है या छूट गया है वे ही अपनी चित्तवृति को अनन्तविध परिणमन से पृथक् करने के लिए समर्थ हो सकते हैं परन्तु ऐसे प्राणियों की विरलता है इसलिए ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि ऐसी चित्तवृत्ति को समझने के लिए कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ॥१९॥

'एकं' चेतो (चिन्ता) निरोधावित्यआर्तरौद्रधर्म्यशुक्लभेदेन चतुर्धा ध्यानमधीतं तत्र प्रथममाध्यानं चतुर्विधमभिदधाना विचित्रास्तोकस्तोत्र-स्तुतेः क्षितितलन्यस्तमस्तकभव्यात्मनां निरस्तेष्टानिष्टवस्त्वाशः एवं(एव) योगी स्तुत्योऽस्तीत्यभिदधति सूरयो नाशास्त इत्यादिना—

नाशास्तेऽप्राप्तमिष्टं सदपि न मनुते नैव शोचत्यतीतं
न द्वेषोऽनिष्टसंगे न च कलुषमति [1]र्नाप्यभावाभिलाषी ।
मायासूयाङ्गशोभामद-मदनकथालोकयात्रातिगश्च
प्रोन्मुञ्चेदार्त्तमेतत्पशुगतिफलदं यः स्तवायास्तु वः सः ॥२०॥

अस्तु भवतु । कः ? स योगी । किमर्थम् ? स्तवाय कीर्तनाय । केषाम् ? वः युष्माकं भव्यात्मनाम् । यः किंविशिष्टः ? प्रोन्मुंचेत् त्यजेत् । किम् ? एतत् । एतत् किम् ? आर्त्तम् आर्त्तध्यानम् आर्त्तं दुखं तत्र भवम् । अथवार्दनम् अर्त्तिः पीडा तस्यां भवं वा । तत् किंरूपम् ? पशुगतिफलदं पशूनां गतिः सैव फलं तद्ददाति तिर्यग्गतिफलप्रदम् । भूयः किंभूतो ? यो नाशास्ते न वाञ्छति । किम् ? इष्टं मनोज्ञम् । किंभूतम् ? अप्राप्तम-लब्धम् । पुनः किम्भूतो ? यो न मनुते नाभ्युपगच्छति । किम् ? सद् विद्यमानं पिच्छकमण्डलुप्रभृतिकम् । मुहुः किंरूपो ? यो नैव शोचति न शोकं करोति । किम् ? अतीतं गतं नष्टम् । कथम् ? ममेदं वस्तु सुख-साधनमासीदिति मनागपीष्टं न चिन्तयतीत्यर्थः । पुनरपि किंभूतः ? न द्वेषो न द्वेष्टि न रोषकारी । क्व ? अनिष्टसंगे अनिष्टममनोज्ञं शत्रुशस्त्र-संपातादिकं तस्य सङ्गः सम्बन्धस्तस्मिन् । पुनः कीदृशो ? यो न च कलुष-मतिः न च नैव भवति कलुषमतिः कश्मलज्ञानः पराभिद्रोहवञ्चनाभिभव-दुःखोत्पादनपरिणामो नेत्यर्थः । मुहुः कीदृक्षो ? यो नाप्यभावाभिलाषी नैवाभावमविद्यमानमभिलषति वाञ्छति असदर्थाभिलाषुको न । भूयः कीदृक् ? मायासूयाङ्गशोभामदमदनकथालोकयात्रातिगश्च परवञ्चनात्मिका

१. वाप्यभवाभिलाषी त० २. किमर्थः ख० ।

भर्म्मिर्माया, परगुणासहिष्णुतया वचनेन परदोषोद्भावनमसूया, अंगं शरीरं तस्य शोभा संस्कारः, मदा अष्टौ, ज्ञानकुलैश्वर्यजातिसपर्यातपोवपुरूपाणि मदाः। मदनो मारः तस्य कामोद्रेककारिवचनप्रबन्धकथनम्। लोको नरनारीरूपस्तस्य यात्रा जनानां समूहः, एतेषां द्वन्द्वेनातिगच्छति क्रामति। यः एतान् परिहृत्य स्वरूपे वर्तत इत्यर्थः। अप्रियाहिविषकण्टकारात्यायुधबाधावंधुर्यः तत्कथं मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः प्रथममार्त्तध्यानं तथा मनोज्ञप्रसङ्गः स्रगङ्गनागोशीर्षगाङ्गेयादि मम भूयादिति स्मृत्यभ्यावृत्तिर्द्वितीयार्त्तानुध्यानम्। वातपित्तपीनसोत्पन्नाक्षिकुक्षिक्षुधादिजनिततीव्रवेदनानाशो मम कदा भविष्यतीति मुहुर्मुहुराध्यानं तृतीयार्त्तध्यानं, भोगाकांक्षातुरस्यानागतविषयप्राप्तिं प्रति मनः प्रणिधानं संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धस्तुरीयार्त्तध्यानम्। एतद्दुर्ध्यानं विधूय वञ्चनान्यदोषोद्भावनशरीरालङ्कारस्मयस्मराख्यानजनयात्रादिव्यवहाररहितो योगीश्वरः सद्भूध्यस्तवनगिरागोचर इति निर्णीतार्थवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२०॥

आगे जो इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं की आशा छोड़ कर आर्तध्यान का त्याग करता है वह योगी ही स्तुति करने के योग्य है, यह बतलाते हैं—

'जो अप्राप्त इष्ट पदार्थ की इच्छा नहीं करता, जो विद्यमान कमण्डलु तथा मयूरपिच्छ आदि में ममता नहीं करता, जो नष्ट हुए पदार्थ का शोक नही करता, जो अनिष्ट पदार्थ के समागम में द्वेष नहीं करता, कलुषित बुद्धि नही होता और न उसके अभाव की इच्छा ही करता है, जो माया असूया शरीर की सजावट, अहंकार तथा काम-वर्द्धक कथा और लोकयात्रा से परे है—रहित है। इस प्रकार तिर्यञ्चगतिरूप फल को देने वाले आर्तध्यान का त्याग करता है वह योगी ही तुम सब का स्तुत्य है—तुम सबके द्वारा स्तुति करने के योग्य है।'

विशेषार्थ—आर्तध्यान के अनेक प्रकार हैं—कभी यह प्राणी, जो पदार्थ अपने लिये प्राप्त नही हैं उन्हें प्राप्त करने के लिये लालायित रहता है, कभी पास में रखे हुए उत्तम कमण्डलु, पिछी आदि के विषय में ऐसा विचार करता है कि ये सदा ही मेरे पास रहे आवें। कभी इष्ट शिष्य आदि का वियोग होने पर दुखी होने लगता है। कभी अनिष्ट पदार्थों का समागम होने पर द्वेष करने लगता है, निरन्तर अपने परिणाम कलुषित रखता है, और उसका समागम दूर होने की अभिलाषा रखता है। अन्य पुरुष को धोखा देने की परिणति को माया कहते हैं। दूसरे के गुण सहन न कर सकने के कारण वचनों द्वारा उसके दोषों को प्रकट करना असूया कहलाती है। शरीर को तेल आदि के मर्दन् से चमकीला आदि रखने की भावना को शरीर-शोभा कहते हैं। अपने आपको बड़ा और दूसरे को छोटा समझने की भावना रखना मद है। यह ज्ञान, कुल, ऐश्वर्य, जाति, पूजा तपश्चरण, शरीर और सौन्दर्य के भेद से आठ प्रकार का होता है। काम को उत्तेजित करने वाली कथा को मदनकथा कहते हैं। नर और नारी के समूह को लोक कहते हैं। इनके साथ राग पूर्वक उठना-बैठना चलना-फिरना वार्तालाप आदि करना लोक-यात्रा कहलाती है। इन माया, असूया आदिरूप परिणामों से निरन्तर आर्तध्यान पुष्ट होता रहता है। आर्तध्यान का फल तिर्यञ्च गति में जन्म लेना है, इसलिये जो ऊपर कहे हुए आर्त-ध्यान के समस्त प्रकारों से दूर हो चुका है वह योगी ही वास्तविक योगी है और वही तुम सबकी स्तुति का पात्र है ॥२०॥

इदानीं द्वितीयाशुभध्यानं किंभेदं, किंस्वभावं, कुतोभवति, किंफलप्रदं, किंसंज्ञमिति विदितवेद्येन वावदूकेन प्रतिपाद्येनावेदिता इव विमुक्तार्त्तरौद्र-एवानूचानः सद्भूव्यात्मनां प्रीतिनिमित्तं भवतीति वदन्तो विदाम्बरा दिगम्बराचार्यवर्या येषामित्यादि जगुः—

येषां हिंसा न सत्त्वे क्वचिदपि वचसां येषु नाऽसत्यभावो
येषां चित्तं न वित्ते परवति निजके येषु रक्षा न चाङ्गे ।
ध्यानाद्ये रौद्रसंज्ञादुपरतमतयः श्वभ्रवेशाविदूरा-
द्रोषद्वेषप्रमोषाग्रहविधिविधुराः प्रीतये सन्तु ते वः ॥२१॥

सन्तु भवन्तु । के ? ते मुनिनायका. । कस्यै ? प्रीतये हर्षोत्कर्षाय । केषाम् ? वो युष्माकम् रत्नत्रयालंकृतोत्तमभव्यसत्त्वानाम् । येषां किम् ? न भवति । का ? हिंसा हिंसनं । क्व ? सत्त्वे प्राणिनि । पुनः किम् ? येषु न । कः ? असत्यभावः असत्यत्वं मिथ्याप्रलपितमित्यर्थः । कथं ? क्वचिदपि कस्मिंश्चिदपि । केषां ? वचसां वचनानाम् । भूयः किम् ? येषां न चित्तं न चेतः । कस्मिन् ? वित्ते द्रव्ये । किंभूते ? परवति अनात्मीये । मुहुः किम् ? येषु न । का ? रक्षा रक्षणं प्रतिपालनमिति यावत् । क्व ? अंगे वपुष्यपि । किंभूते ? निजके स्वकीये । किंविशिष्टाः ? उपरतमतयः उपरता निवृत्ता मतिर्बुद्धिर्येषां ते व्यावृत्तचित्ताः । कस्मात् ? ध्यानाद् वारं-वारमनुस्मरणात् । किमाख्यात् ? रौद्रसंज्ञात् रुद्रः क्रूराशयस्तस्य भावः कर्म वा तत्र भवं वा रौद्रं, संज्ञाभिधानं तद् विद्यते यस्य तत् तस्मात् । कथ-मेनमपकारकारिणं कालत्रा कृतकायं करिष्यामि सर्वस्वापहारिणं कार-यिष्यामि, बन्धयिष्यामीति परिणामप्रवाहपरादित्यर्थः । किंभूतात् ? श्वभ्रवेशाविदूरात् श्वभ्रं रत्नप्रभादिषु सीमन्ताद्युत्पत्तिस्थानं तत्र वेशः प्रवेशः तस्याविदूरं निकटं तस्मात् नरकविवरनारकप्ररोहबीजादित्यर्थः । भूयः किंभूताः ? रोषद्वेषप्रमोषाग्रहविधिविधुराः रोषो हिंसनं द्वेषोऽप्रीतिः प्रमोषश्चोरणम्, ऐतेषां द्वन्द्वस्तेष्वाग्रहोऽत्यासक्तिस्तस्य विधिर्विधीयत इति

विधिः कार्यकर्तव्यतेत्यर्थः । तेन विधुरा रहितास्ते शंसनाक्रोशनस्तेनासन्नकार्यहीना इत्यर्थः । हिंसासत्यस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो भवद्रौद्राह्वं ध्यानं चतुर्धाप्यविरतदेशविरतस्वामिकं नरकोद्भवविवरप्रवेशकं मनस्यकुर्वाणाः स्वशरीरशरारूणामप्यशरारवोऽसारसंसारसागरोत्तरणसेतुबन्धसद्ध्याना-धीनधिषणध्यानिनः सद्भव्यभविनां प्रणयाय भवन्त्वितिवन्र्भणितवृत्तसंहत्यर्थः ॥२१॥

आगे रौद्रध्यान के प्रकार बतलाते हुए उससे विरत रहने वाले योगीश्वर तुम सबकी प्रसन्नता के लिये हों, यह बतलाते हैं–

'जिनके किसी भी प्राणी पर हिंसा रूप परिणाम नहीं है, जिनके वचनों में कभी भी असत्यता नहीं आती, जिनका चित्त परकीय धन मे कभी भी नहीं जाता, अपने शरीर में भी जिनकी रक्षा करने की बुद्धि नहीं होती, जो नरक प्रवेश के निकटवर्ती अर्थात् शीघ्रता के साथ नरक में प्रवेश कराने वाले रौद्रध्यान से सदा दूर रहते हैं, और रोष, द्वेष तथा चोरी आदि रूप परिणामों से रहित है; वे योगीश्वर तुम सबकी प्रीति के लिये हों— तुम्हारे आत्मानन्द को बढ़ाने वाले हों ।

विशेषार्थ—रौद्र ध्यान भी अनेक प्रकार का है । उसके वशीभूत हुआ प्राणी कभी जीवहिंसा करता है, कभी असत्य वचन बोलता है, कभी पर-धन हरण की आकांक्षा करता है । कभी अपने शरीर की रक्षा करने में व्यग्र रहता है, कभी इच्छानुकूल परिणमन न होने से पर-पदार्थ में रोष करने लगता है, कभी स्वकीय इच्छा का विघात करने वाले पदार्थ में द्वेष करने लगता है, और कभी कषाय की उत्कटता से प्रेरित हुआ पर-

कीय धन तथा स्त्री आदि के अपहरण मे तत्पर रहता है। जीव के उक्त परिणाम रौद्रध्यान के परिणाम हैं। इन परिणामों से इसका नरक गति में प्रवेश निकट हो जाता है। अतः जो मुनिराज रौद्रध्यान के उक्त सभी प्रकारों से विरत हो चुके हैं वे ही तुम सबकी प्रसन्नता के बढ़ाने वाले हों। जो पुरुष सदोष रहता है उसकी आत्मा स्वयं अशान्त रहती है और जो स्वयं अशान्त रहता है वह दूसरे को शान्त नहीं कर सकता। श्री शान्तिनाथ भगवान् का स्तवन करते समय श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने दूसरे को शान्त बनाने का जो क्रम प्रदर्शित किया है वह बहुत ही सुन्दर है—

> स्वदोषशान्त्यावहितात्मशान्तिः
> शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
> भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै
> शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः[१] ॥

अर्थात् स्वकीय दोषों के शान्त हो जाने से जिन्हें आत्म-शान्ति प्राप्त हुई है और जो शरणागत जीवों को शान्ति प्रदान करने वाले हैं वे श्री शान्तिनाथ भगवान मेरे सांसारिक क्लेशों से उत्पन्न होने वाले भयों की शान्ति करने वाले हों।

इस श्लोक मे भी आचार्यवर्यने यही भाव दिखाया है कि रौद्रध्यान का अभाव होने से जिनकी आत्मा स्वयं शान्त हो चुकी है—प्रीति से युक्त हो चुकी है वे तुम सबकी शान्ति के लिये हों—तुम्हारी प्रसन्नता बढ़ाने वाले हों ॥२१॥

---

१. स्वयंभूस्तोत्रे शान्तिनाथस्तुतिः।

वैरविरोधोद्धुरसिधुरोद्धवविध्वंससिन्धुरारिसमाधिविधुवीधितिप्रबन्ध-प्रधाबोद्भूतध्वान्तवैध्रूयध्यानसौध [1]बन्धाधीश्वरोत्तमक्षमादिदशधर्माभिधान-धुरीणधिषणप्रधानाराध्याः सद्ध्यानेद्धधनंजयेन कर्मैधांसि विधक्षुणा धर्म्यध्यानं विधित्सुनाराधनाविधानैराराधिताः कीदृशं धर्म्यध्यानस्वरूप-मिति साधकेन ध्वनिता इव धीधनाधीतसकलसमयार्थाः सूरयो याथात्म्य-मित्याद्यभिदधुः—

याथात्म्यं धर्म्यमाहुस्तदिह बहुधियो वस्तुजातेश्च सर्वं
हर्षामर्षाभिषङ्गप्रविकलमनसां स्थात्सदालम्बमेषाम् ।
तद्ध्यानाधीनधीनाः प्रतिगमविगमान्मोहमूलं लुनन्ति
तस्मिन्पञ्चावबोधीपरिकलितकले क्वापि तत्त्वे कृतास्थाः ॥२२॥

आहुः ब्रुवन्ति । किम् ? धर्म्यम्, धर्मादनपेतम् । किं तत् ? याथात्म्यं यथात्मनो भावः । वस्तुसंजातेः (वस्तुजातेः) वस्तु सामान्यविषयात्मकं (सामान्यविशेषात्मकम्) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सज्जीवाजीवादिसामान्य-मात्रं विशेषनिरपेक्षं सत्तद्ग्राहकप्रमाणाभावान्नापि विशेषमात्रं तन्निरपेक्षं तत एव । तदुक्तम्—

विशेषरहितं किञ्चित्सामान्यं नावभासते ।
सामान्यहीनतायां हि विशेषस्तद्वदेव वै ॥
नोत्पत्तिमात्रकं तत्त्वं नाव्ययं व्ययमेव वा ।
स्यात्तादात्म्यमतादात्म्यं भेदाभेदोपवर्णनात् ।
न पर्यायैः पृथग्द्रव्यं न पर्याया विनान्वयैः ।
द्वाभ्यामभिन्नभूतं च भावं भावविदो विदुः ॥

तस्य जातिः सामान्यं द्विविधं तिर्यगूर्ध्वताभेदात् । चेतनस्याचेतनस्य द्रव्यस्य स्वसामान्यमपरित्यजतो निमित्तवशाद्भावान्तरावाप्तिकोत्पादन मुत्पादो मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत् । तथा पूर्वभावविगमनं व्ययो यथा

---

१. सौवन्धाधीश्वरोत्तम् ख० ।

घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डाकृतेः। अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद्ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवस्तस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यं यथा पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यवयवाः, ते, तैर्युक्तं सदिति नैष दोषोऽभेदेऽपि कथञ्चित्संज्ञासंख्याविकल्पभेदनयापेक्षया युक्त शब्दो दृष्टो। यथारूपयुक्तो घट इति तथा सति तेषामविनाभावात्स व्यपदेशो युक्तः। समाधिवचनो वा युक्तशब्दः। युक्तः समाहितस्तदात्मक इत्यर्थः। उत्पादव्यययुक्तं सद् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमिति यावत्। एतदुक्तं भवति, उत्पादादीनि द्रव्यस्य लक्षणानि। द्रव्यं लक्ष्यं तत्र पर्यायार्थिकनयापेक्षया परस्परतो द्रव्याच्चार्थान्तरभावो, द्रव्यार्थिकनयापेक्षया व्यतिरेकानुपलब्धिरनर्थान्तरभाव इति लक्ष्यलक्षणभावसिद्धिरविरुद्धा धीमद्भिरवबोद्धव्येति सिद्धा वस्तुजातिस्तस्य। के? बहुधियः प्रचुरबुद्धयः। स्याद् भवेत्। किम्? आलम्बम् आश्रयणम्। किं तद्? याथात्म्यम्। पुनः किंभूतं? सर्वं स्वरूपं पररूपञ्चेति। क्व? इह समये। केषाम्? एषां [1]संबंधीघनानाम्(?)। किंभूतानाम्? हर्षामर्षाभिषङ्गाविकलमनसां हर्ष इष्टे वस्तुनि प्रेमोत्कर्षः, अमर्षो द्वेषः, कालुष्यं कल्मषं कलुषत्वमनयोर्द्वन्द्वस्तयोरभिषङ्गः सम्बन्धस्तेन विकलं शून्यं मनश्चित्तं येषां तेषाम्। लुनन्ति छिन्दन्ति। किम्? मोहमूलम् 'अहं कुर्वेऽहं कुर्वे' इत्यहङ्कारो मोहः स च द्विविधो दर्शनमोहश्चारित्रमोहश्च। तत्र सम्यक्त्व मिथ्यात्वतदुभयभेदात्त्रिविधो दर्शनमोहः। स बन्धं प्रत्येकत्वं गत्वापि सत्कर्मापेक्षया त्रिधा व्यवतिष्ठते। तत्र यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीत मार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितपरिज्ञानासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मानं श्रद्दधानं न निरुणद्धि तद्वेदयमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरभिधीयते। तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात् क्षीणमदशक्तिकोद्रववत् सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते सम्यग्मिथ्यात्वमिति यावत्। यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमदकोद्रवौदनोपयोगापादितमिश्रपरिणाम (इव) तदुभया-

---

१. सम्यग्धीधनानाम् इति पाठः शुद्धः प्रतिभाति।

त्मको भवति परिणामः । चारित्रमोहो द्विविधः अकषाय-कषायवेदनीय-भेदात् । ईषदर्थे नञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति अकषायवेदनीयं नवविधं हास्यादिभेदात् । यस्योदयाद्धास्याविर्भावस्तद्धास्यम् । यदुदया-द्देशादिष्वनौत्सुक्यं सा रतिः । अरतिस्तद्विपरीता । यद्विपाकाच्छोचनं स शोकः । यदुदयादुद्वेगस्तद् भयम् । तदुदयादात्मनो दोषसंवरणं सा जुगुप्सा । यदुदयात्स्त्रैणं भावं प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः । यस्योदयात्पौंस्नान् भावानास्कन्दति स पुंवेदः । यदुदयान्नपुंसकभावं प्रतिपद्यते स नपुंसक-वेदः । कषायवेदनीयं षोडशविधम् । कुतः ? अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात् । तद्यथा, कषायाः क्रोधमानमायालोभाः । एषां चत्वारो भेदाः अनन्तानु-बन्धिनोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणाः संज्वलनाश्चेति । अनन्तसंसार-कारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः । यदुदया-द्देशविरतिसंयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्त्तुं न शक्नोति तदिदमप्रत्याख्यान-मावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्त्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । समे एकीभावे वर्तन्ते संयमेन सहावस्थानादेकीभूताः ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभास्त एते समुदिताः षोडश कषाया भवन्तीति व्याख्यातः सविस्तरो द्विविधोऽपि मोहस्तस्य मूलं कारणं मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाय-योगरूपम् । तत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यात्वम् । मनोज्ञामनोज्ञविषयव्यावृत्ति-र्विरतिस्तद्विपरीताऽविरतिः । दयादमरत्नत्रयकुशलेष्वनादरो विकथाकषा-येन्द्रियनिद्राप्रणयाकुशलेष्वादरः प्रमादः । सत्यासत्योभयानुभयमनोवचन-कायस्वभावो योगः । के ? तद्ध्यानाधीनधीनाः धर्म्यध्यानायत्तमनसः । पुनः किंभूताः ? कृतास्थाः कृतव्यवस्थाः । क्व ? तस्मिन् प्रसिद्धे । क्वापि तत्त्वे कस्मिंश्चिदपि चेतनाचेतनस्वभावजीवाजीवात्मकादौ । किंभूते ? पञ्चावबोधीपरिकलितकले पञ्चानामवबोधानां समाहारः पञ्चावबोधी तया परिकलिता ज्ञाता कला पर्यायो यस्य तस्मिन् । के ते पञ्चावबोधाः ? मति-

श्रुतावधिमनः पर्ययकेवलावबोधाः तत्रावबोधशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। इन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थान्मन्यतेऽनया मनुते मननमात्रं वा मतिः। तदावरणक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते तच्छृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्। अवाग्मना (अवाग्धाना) दवच्छिन्नविषयत्वाद्वावधिः। परकीयमनोगतोऽर्थ मन इत्यभिधीयते साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः। मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत्? न, अपेक्षामात्रत्वात्। क्षयोपशमशक्तिमात्रविजृम्भितं तत्केवलं स्वपरमनोभिर्व्यपदिश्यते। यथाभ्रे-चन्द्रमसं पश्येति। बाह्येनाभ्यन्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनः केवन्ते सेवन्ते तत्केवलमसहायमिति चेति पञ्चावबोधाः। कुतः? प्रतिगमविगमात् चलाचलस्वभावविनाशात् स्थिरीभूतादित्यर्थः। आत्मानात्मादिसत्सामान्यं यथावदवबोधो धर्म्यमिति ध्वनन्ति ध्यानविनायकाः। ते च हर्षोत्कर्षाश्लषकथः सकलालम्बनबोधजुषो विज्ञानपञ्चकज्ञातवस्तुपर्याये कृतव्यवस्थाः धर्म्मध्यानप्रबलबलालमूलोन्मूलितकर्म्मानोकहकक्षा भवन्तीति वंध्वनितवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२२॥

आगे धर्म्म ध्मान का स्वरूप और उसका फल बतलाते हैं—

'सामान्य-विशेषात्मक वस्तु का जो स्वरूप है उसे प्रचुर ज्ञान के धारक महर्षि धर्म्म कहते हैं। यह धर्म्म ही—स्वकीय परकीय वस्तु का यथार्थ स्वरूप ही—हर्ष और विषाद के सम्बन्ध से रहित मन वाले सम्यग्ज्ञानी पुरुषों का समीचीन आलम्बन है—ध्यान का विषय है। जिनका चित्त धर्म्यध्यान के अधीन है और जो मतिज्ञानादि पञ्चविधज्ञान के द्वारा जिसका सूक्ष्म स्वरूप जाना जाता है ऐसे किसी भी स्वतत्त्व अथवा पर तत्त्व में आस्था करने वाले हैं ऐसे महापुरुष बाधक कारणों का अभाव हो जाने से मोहनीय कर्म का मूलच्छेद करते हैं—उसका समूल विनाश करते हैं।'

विशेषार्थ—जिसमें परस्पर विरोधी अनेक गुण निवास करते हैं उसे वस्तु कहते हैं। यह वस्तु सामान्य-विशेषात्मक हैं। द्रव्य को सामान्य कहते हैं और पर्याय को विशेष कहते हैं। संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो द्रव्य और पर्याय—दोनों की अपेक्षा से रहित होकर स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व रखता हो। यह सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही सत् कहलाता है। यह सत् उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य रूप होता है। किसी द्रव्य की नूतन पर्याय के प्रकट होने को उत्पाद और पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते है। पूर्व और पर पर्याय में जो अन्वय बना रहता है उसे ध्रौव्य कहते हैं। ध्रौव्य; सामान्य अथवा द्रव्य रूप है। तथा उत्पाद और व्यय विशेष अथवा पर्याय रूप हैं। इस प्रकार वस्तु का जो वास्तविक स्वरूप है वह धर्म्य कहलाता है। इस धर्म्य का ध्यान करना धर्म्यध्यान है। जब तक मोह की प्रचुरता रहती है तब तक इष्टानिष्ट पदार्थों के संपर्क से हर्ष विषाद उत्पन्न होता रहता है परन्तु जैसे-जैसे मोह की मन्दता होती जाती है वैसे-वैसे ही इष्टानिष्ट पदार्थों के संपर्क से हर्ष-विषाद कम होता जाता है और अन्त में एकदम सम अवस्था—माध्यस्थभाव प्रकट हो जाता है। इस प्रकार मोह की मन्दता के कारण जिनके मन से हर्ष-विषाद दोनों ही नष्ट हो गये हैं ऐसे महापुरुषों के स्वतत्त्व अथवा परतत्त्व का वास्तविक स्वरूप ही ध्यान का विषय रह जाता है। ऐसे जीव अपने उपयोग की स्थिरता के कारण किसी भी पदार्थ में स्थिर चित्त हो जाते हैं और प्रति-

बन्धक कारणों का अभाव हो जाने से मोह के मूल स्वरूप मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व अथवा सम्यक्त्व प्रकृति का उच्छेद कर देते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन की बाधक मिथ्यात्वादि प्रकृतियों का अभाव कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाते है। धर्म्यध्यान चतुर्थ गुणस्थानों से लेकर सप्तम गुणस्थान तक होता है। इन गुणस्थानों में से किसी भी गुणस्थान मे दर्शन मोह का मूलच्छेद कर यह जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है। यदि कारण वश कुछ न्यूनता रहती है तो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है और इस प्रकार श्रेण्यारोहण करने के लिये तत्पर हो जाता है ॥२२॥

चतुरम्भोधिरोधोधराधराधित्यका काननानोकहस्कन्धसन्निषण्णनागाङ्गनागानपतङ्गगो विकसितकीर्तिपुण्डरीकोत्तंसितसलिलसुरसीमन्तिनीसार्थाः सरयो(सूरयो)ऽधुना चतुर्विधधर्म्यध्यानमभिदधाना आगेत्यादि संध्वनन्ति—

आज्ञा सर्वज्ञवाणी निजवृजिनजयोपायचिण्ता त्वपायः
कर्मोद्रेको विपाकस्त्रिभुवनरचनाऽऽलम्बि संस्थानमुक्तम् ।
तत्रायं स्याद्विवेको विचय इह ततो योगिनः स्युः कदाचित्
नाकस्त्रीनेत्रनीलोत्पलवनसुहृदः कर्म-पाशच्छिदो वा ॥२३॥

स्युर्भवेयुः । के ? योगिनो ध्यानिनः । कथम् ? कदाचित् कस्मिंश्चित्काले । किंभूताः ? नाकस्त्रीनेत्रनीलोत्पलवनसुहृदः । नाको द्यौस्तत्र स्त्रियः देववनितास्तासां नेत्राणि लोचनानि तान्येव नीलोत्पलानीन्दीवराणि तेषां वनं समूहस्तस्य सुहृदो मित्राः स्वर्गाङ्गनानयननीलोत्पलकाननविकासकौमुदीचन्द्रा इत्यर्थः । अथ कर्म्मपाशच्छिदो वा कर्म्माणि ज्ञानावरणादीनि तान्येव पाशा बन्धनानि तान् छिन्दन्ति ते कर्म्मोच्छेदा[illegible]

च्छाविच्छिन्नसंवेदनाद्यात्मकमोक्षा वा। क्व? इह जगति। कस्मात्? ततो धर्म्मध्यानात्। तत्किंसंख्यम्? चतुर्विकल्पं। केनोल्लेखेन? आज्ञाविचयो-ऽपायविचयो विपाकविचयः संस्थानविचयश्चेति। तत्र केयमाज्ञा कश्चासौ तद्विचय इति? भवति। का? आज्ञा सर्वज्ञवाणी जिनभारतीत्यर्थः। कोऽय-मपायो? भवति। कः? अपायः। का? निजवृजिनजयोपायचिन्ता नि-जानि स्वकीयानि वृजिनानि कर्म्माणि तेषां जय. पराजयस्तस्योपायः प्राप्त्यु पायः तस्य चिन्तनमाध्यानं स तथा स्यात्। को विपाकः? कः कर्मोद्रेकः कर्म्मणामुद्रेकोऽनुभवस्तथोक्तं। कथितम्। किं? संस्थानम्। किंभूतम्? त्रिभुवनरचनालम्बि ऊर्ध्वाधोमध्यभेदभिन्नत्रिभुवनाकाराश्रयीत्यर्थः। तत्र कोऽयंविचयः, स्यात्? कोऽयं? विचयो विचयनं विवेको विचारणा। एतत् सम्यक्परीक्षेति यावत्। तद्यथा उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कामोदयत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्ये-त्थमेवेदं नान्यथावादिनो जिना इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञा-विचयः। अथवा स्वयं विदितपदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रतिपिपादयिषोः स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थस्तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वा-हारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचयः। जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञ-प्रणीतमार्गाद्विमुखाः सौख्यार्थिनः सम्यग्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायविचिन्तनमपायविचयः। अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचरित्रेभ्यः कथं नाशो मे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः। कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययं फलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः। लोकसंस्थानविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयः। उत्तमक्षमादिस्वभावं दशविकल्पधर्म्मयुक्तं तत्सर्वमपि चतुर्धा भवतीत्यव-सेयम्। धर्म्मध्यानानुध्यानाच्च केचन योगिनो निलिम्पवनिताबदनकुमुद-वनोल्लासशरदिन्दवः सम्पनीपद्यन्ते। अपरे पुनः निखिलकर्मबन्धविध्वस्त-सन्तानकाः शुद्धात्मस्वभावं मोक्षं प्राप्नुवन्तीति प्रतिपादितवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२३॥

आगे धर्म्यध्यान के भेद और उसके फल का निरूपण करते हैं—

'सर्वज्ञ भगवान् की वाणी को आज्ञा कहते है। अपने पापों के जीतने वाले उपायों का ध्यान करना अपाय कहलाता है। ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय को विपाक कहते हैं और तीन लोक की रचना का आलम्बन करना संस्थान कहा गया है। इन आज्ञा आदि के विषय में ध्यानी मनुष्य का जो विवेक है वह क्रमश. आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय कहलाता है। इस ध्यान के धारण करने वाले योगी, कदाचित् देवाङ्गनाओं के नेत्र रूपी नील कमलों के वन को विकसित करने वाले चन्द्र होते हैं अथवा कर्मरूपी पाश छेदने वाले—सिद्ध हो जाते है।'

विशेषार्थ—वीतराग सर्वज्ञ देव ने पदार्थ का जैसा निरूपण किया है वह वैसा ही है इस प्रकार जैनेश्वरी वाणी को आज्ञा रूप मानते हुए उसका निरन्तर चिन्तन करना आज्ञा-विचय धर्म्यध्यान है। मै स्वार्जित पाप के प्रभाव से ही चतुर्गति रूप संसार मे नाना दुःख उठा रहा हूँ इन पापों को किस प्रकार जीत सकूगा इत्यादि विचार करना सो अपाय-विचय धर्म्यध्यान है। ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मों का तथा मति-ज्ञानावरणादि एक सौ अड़तालीस उत्तर कर्मों के उदय का—फल का चिन्तवन करना विपाक-विचय है और तीन लोक अथवा उसके अंगभूत किसी द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि के आकार का चिन्तवन करना सो संस्थान-विचय धर्म्यध्यान है। इन

ध्यानों को धारण करने वाला मनुष्य यदि उपशम श्रेणी माढ़कर अष्टमादि गुणस्थानों में शुक्लध्यान के प्रथम भेद का चिन्तन करता हुआ मरण करता है तो स्वर्ग में देव होता है। वहाँ अपने शरीर की सहज सुन्दरता के द्वारा देवांगनाओं के नेत्ररूपी नील कमलों के समूह को चन्द्रमा के समान विकसित कर देता है और यदि सप्तम गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो, क्षपक श्रेणी माढ़ कर अष्टमादि गुणस्थानों में शुक्लध्यान के प्रथम भेद का चिन्तन करता है तो दशवें गुणस्थान के अन्त में समस्त मोहनीय कर्म का क्षय कर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में पहुंच जाता है। वहां अन्तर्मुहूर्त रुक कर शुक्लध्यान के द्वितीय भेद का चिन्तन करता हुआ अवशिष्ट तीन घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञानी बन जाता है। वहां कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक देशोन कोटि वर्ष प्रमाण रुक कर शुक्लध्यान के तृतीय भेद के प्रभाव से असंख्य गुणी निर्जरा करता हुआ चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है और वहां लघु अन्तर्मुहूर्त में ही शुक्ल ध्यान के चतुर्थ भेद के प्रभाव से अघातिया कर्मों की अवशिष्ट ८५ प्रकृतियों का क्षय कर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार धर्म्यध्यान का साक्षात् फल स्वर्ग की प्राप्ति करना है और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति करना है ॥२३॥

अधुना चतुर्विधधर्म्मध्यानाभ्यसनस्थिरीकृतासनो मन्दीभूतोच्छ्वास-निःश्वासप्रचारः शुक्लध्यानोपयोगवान् योगी भवतीति बम्भणन्ति भारत्यम्बुवाहिनीवारिक्रीडाकरीन्द्राः सूरयो धर्म्मध्यानेत्यादिना—

[1]धर्मध्याने प्रबन्धाभ्यसनसमधिक[2] स्थैर्यलब्धावतारे
प्राणायामोर्म्यबाधाऽऽसनजयहृदयस्थानविज्ञानसारे ।
द्विःस्रोतोवाहिसर्वाऽऽशयशमनसमासन्नसंसारपारे
सिद्धश्चित्तप्रचारै(रे)र्भवति कृतमतिः शुक्लयोगोपचारे ॥२३॥

भवति संपद्यते। कः? कृतमतिः पुण्यज्ञानः। किंभूतः? सिद्धः कृतकृत्यः साधितसाध्यार्थः। क्व? शुक्लयोगोपचारे। शुक्लः कश्मलभाव-रहितो योगो ध्यानं तत्रोपचारः प्रवर्तनं तस्मिन्। कस्मिन् सति? चित्त-प्रचारे मनःप्रचरणे। किंभूते? धर्मध्याने प्रबन्धाभ्यसनसमधिकस्थैर्य-लब्धावतारे धर्म्यध्याने। शुक्ल (धर्म्ममुक्त) लक्षणं तत्र प्रबन्धः सात-त्वेनाभ्यसनं मुहुर्मुहुः प्रवर्तनं तेन समधिकमुत्कटं तच्च स्थैर्यं स्थिरत्वं तस्य लब्धः प्राप्ता (प्राप्तोऽ) वतारोऽवतरणं (यस्मिन्) तस्मिन। पुन-किंभूते? प्राणायामोर्म्यबाधासनजयहृदयस्थानविज्ञानसारे प्राणा उच्छ्वास-निःश्वासादयः तैः कृत आयामः खेदः तस्योर्म्मिः प्राचुर्यं तया बाधा पीडा, आसनमासनविशेषः तयोर्जयः पराजयस्तच्च तत् हृदयस्थानं च तत् विज्ञानं विगतसंशयज्ञानं नानाज्ञानं च तेन सारं सारतरं तस्मिन्। मुहुः किंभूते? द्विःस्रोतोवाहिसर्वाशयशमनसमासन्नसंसारपारे। द्वौ वारौ द्विः। स्रोतो जलप्लवः शुभमशुभं वा वहतीति वाही। सर्वः समस्तः। आशयश्चित्तं तस्य शमनमुपशमः सकलक्रियाविरामः तेन समासन्नः सम्यग् निकटः संसारस्य पारस्तटस्तस्मिन्। शुभध्यानाभ्याससम्पादिताचलस्वरूपे प्राणा-सनजयपरिचित्तारोपित सद्बोधबन्धुरे पुण्यपापोपयोगिनिखिलक्रियो(क्रिया) पगमप्राप्तसंसाराकूपारपारे चेतोविचरणे सकलनिष्ठितार्थः कृती शुक्ल-ध्यानानुध्यानवान् भवतीति निरूपितवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२४॥

आगे जो मनुष्य चार प्रकार के धर्म्मध्यान का अभ्यास करता है वह शुक्ल ध्यान को पाकर कृतकृत्य हो जाता है—

---

१. धर्मध्यानप्रबन्ध त.। २.समधिकास्थैर्य ख०।

यह निरुपरण करते हैं—

'निरन्तर के अभ्यास से जिसमें स्थिरता की वृद्धि हो रही है, प्राणायाम की परम्परा को प्राप्त होने वाली पीड़ा तथा आसन सम्बन्धी दुःखों को जीतने वाले हृदय में स्थित विशिष्ट ज्ञान ही जिसमें सार रूप है, तथा शुभ अशुभ चित्त की प्रवृत्ति को शमन करने के कारण जिसमें संसार का अन्तिम तट निकटस्थ हो रहा है, ऐसे धर्म्यध्यान में जब चित्त का प्रचार होने लगता है तब पवित्र ज्ञान का धारक यह कुशल मानव शुक्लध्यान धारण करने में कृतकृत्य हो जाता है।'

विशेषार्थ—यद्यपि इस जीव का चित्त आर्त्त-रौद्र ध्यान में अधिक प्रवृत्त होता है और धर्म्यध्यान में कम। तो भी जब धर्म्यध्यान का बार-बार अभ्यास करता है तब उसमें भी चित्त अधिक काल तक स्थिर रहने लगता है। ध्यान के समय श्वासोच्छ्वास की गति मन्द पड़ जाती है और एक ही आसन से अधिक समय तक बैठना पड़ता है। इन दोनों से इस जीव को कष्ट होता है परन्तु इसका हृदय उक्त दोनों कष्टों को बड़ी दृढ़ता के साथ जीतता है। इस कष्ट-सहिष्णु प्राणी के हृदय में एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान अथवा भेद-विज्ञान विद्यमान रहता है जिसके प्रभाव से वह शाश्वत्प्राप्त होने वाले कष्ट से कभी व्यग्र नहीं होता है। ध्यान के पूर्व इस जीव की मानसिक प्रवृत्ति कभी पुण्य रूप होती थी और कभी पाप रूप, परन्तु अब वह उक्त दोनों ही प्रवृत्तियों को शान्त कर देता है और ऐसा करने से उसके ससार रूपी समुद्र का अन्तिम तट

निकटस्थ हो जाता है। यथार्थ में जब तक यह जीव शुभ और अशुभ के विकल्प में पड़ा रहता है तभी तक इसका ससार विद्यमान रहता है परन्तु जब शुभ और अशुभ का विकल्प छोडकर शुद्ध परिणमन करने लगता है तब इसका ससार बहुत ही अल्प रह जाता है। यह सब कार्य धर्म्यध्यान मे होता है अत: उक्त धर्म्यध्यान मे जिसका चित्त प्रवृत्त होने लगता है। वह बड़ा भाग्यशाली है—बड़ा ही बुद्धिमान् है। ऐसा प्राणी शुक्लध्यान धारण कर शीघ्र ही कृतकृत्य हो जाता है—कर्म-क्षय कर मुक्त हो जाता है ॥२४॥

चतुर्भेदं धर्म्यध्यानं व्याख्याय चतुःप्रकारं शुक्लध्यानं व्याख्यातुकामा निखिलाख्यायिकाख्यानकव्याख्यानक्षीणकुक्षयः प्रसंख्यान प्रकाशकुशेशय प्रकाशनोष्णरश्मयः सोमदेव सूरयः आद्यं शुक्लध्यानस्वरूप(पं)निरूपयन्तो नानाभावेत्यादि प्रतिपादयन्ति—

नानाभावः पृथकत्वं प्रवचनविषयालोकनार्को वितर्कः
संक्रान्तिस्तेन कुर्वन् क्रमविधिवशतो वाचि वाच्ये त्रियोग्याम् ।
वीचारो द्रवा आद्यः स्थितमणुममलः पर्यये वा द्विमार्गः ।
कर्मारीणामरीणां स्थितिमनुतनुते स्वर्गगो मोक्षगश्च ॥२५॥

अनुतनुते विस्तारयति। काम् ? स्थितिं व्यवस्थितिम्। किंभूताम् ? अरीणामचलां कार्यक्षमामित्यर्थः। केषाम् ? कर्मारीणाम् कर्माण्येवारय-स्तेषां वृजिनाराति सन्ततीनाम्। कः ? आद्यः ? शुक्लः। किंविशिष्टः ? द्विमार्गः द्वौ मार्गौ यस्यासौ द्विमार्गः ईषत्कर्मक्षपणाऽक्षपण रूपः। कुतः ? स्वर्गगो मोक्षगो वा स्वर्गापवर्गप्रापको यतो विशेषणमपि हेतुत्वेन द्रष्टव्यम्। स कः ? पृथक्त्ववितर्कवीचार इति। भवति। किं ? पृथक्त्वं पृथगित्यस्य भावः। को ? नानाभावो नानात्वम्। अथ कोऽयं वितर्कः। विशेषेण

तर्कणमूहनं श्रुतज्ञानम् 'वितर्कः श्रुतम्' इत्यभिधानात् । कोऽसौ ? प्रवचनविषयालोकनार्कः प्रवचनं परमागमस्तस्य विषयस्तेन परिच्छेद्यो जीवाजीवादिस्तस्यालोकनं दर्शनं प्रकाशनं तत्रार्क इवार्कः स्वपरप्रकाशकत्वात् । ननु कः किलायम् वीचारः, वीचारः संक्रान्तिः परिवर्तनं । केन ? तेन केन ? प्रवचनविषयालोकनार्केण । कस्मात् ? क्रमविधिवशतः । क्रम (क्रमः) परिपाटी, विधीयत इतिविधिः कार्यं तस्य वशः आयत्तत्वम् तस्मात् । कस्यां ? वाचि व्यञ्जने वचन इति यावत् । न केवलं, वाच्येऽध्येयेऽर्थपर्यायेंऽशे वा । न केवलं, त्रियोग्यां च, त्रयाणां योगानां समाहारस्त्रियोगी तस्याम् । योगः कायवचनमनः कर्मलक्षणः । क्रमेत्याद्युक्तं प्राक्तदिदानीं कथ्यते । द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति पर्यायं त्यक्त्वाद्रव्यमिति वाच्यसंक्रान्तिः । एकं प्रवचनवचनमुपादाय वचनान्तरमवलम्बते तदपि विहायान्यदिति वचन संक्रान्तिः । काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं (अवलम्बते तदपि त्यक्त्वा) काययोगमिति योगसंक्रान्तिः । एवं परिवर्तनं वीचार इत्युच्यते । तदेतत्सामान्यविशेषनिर्दिष्टं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्लञ्च । किं कुर्वन् ? तनुयन् (?) ध्यायन् । कम् ? अणुं परमाणुम् । किंभूतम् ? स्थितम् । क्व ? द्रव्ये पर्यये वा द्रव्यपरमाणुं चिन्तयन्नित्यर्थः । आहितवितर्कसामर्थ्योऽर्थव्यञ्जनं कायवचसी च पृथक्त्वेन संक्रान्तापरिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेन मनसाप्यपर्याप्तबालोत्साहवदध्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तनुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन् । पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवतीति व्याख्यातवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२५॥

आगे शुक्लध्यान के प्रथम भेद का वर्णन करते हैं—

'शुक्लध्यान के प्रथम भेद का नाम पृथक्त्व-वितर्क-विचार है जिसका अवयवार्थ इस प्रकार है । पृथक्त्व का अर्थ नाना रूपता है, वितर्क का अर्थ श्रुत है, यह श्रुत परमागम के विषय भूत पदार्थ को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान है । विचार

का अर्थ संक्रान्ति है, यह संक्रान्ति शब्द, अर्थ और मन वचन काय रूप तीन योगो मे क्रमपूर्वक परिवर्तन से होती है। यह शुक्लध्यान निर्मल है, कर्मों का क्षय अथवा उपशम करना ये दो इसके मार्ग है–कार्य हैं, यह द्रव्य अथवा पर्यायरूप मे अवस्थित परमाणु का ध्यान करता है–उसे अपना विषय बनाता है, कर्म रूप शत्रुओं की अचल स्थिति करता है–कर्म रूप शत्रुओं को आगे बढने से रोकता है और इसके धारण करने वाले स्वर्गगामी अथवा मोक्षगामी होते है'।

'विशेषार्थ—शुक्लध्यान का प्रथम भेद आठवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। इन गुणस्थानों में मन वचन और काय में तीनों योग विद्यमान रहते हैं तथा दशम गुणस्थान तक संज्वलन कषाय का उदय भी रहता है, अतः इच्छापूर्वक शब्द अर्थ और योगों मे संक्रमण होता रहता है। कभी शब्द का ध्यान करता है तो कभी शब्द को छोड़कर अर्थ का ध्यान करने लगता है, कभी काय योग का अवलम्बन करता है तो कभी वचन योग का और कभी मनोयोग का अवलम्बन करने लगता है। इस प्रकार इस ध्यान मे अर्थ, व्यंजन और योग का संक्रमण जारी रहता है। यदि उपशम श्रेणी वाले जीव के यह ध्यान होता है तो वह चारित्र मोह का उपशम करता है और क्षपक श्रेणी वाले जीव के होता है तो वह चारित्र मोह का क्षय करता है। इस ध्यान के पहले कर्म रूपी शत्रुओं का प्रसार—आस्रव होता रहता है परन्तु इस ध्यान के होते ही उनका प्रसार रुक

जाता है। उनका संवर होने लगता है और ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचते-पहुँचते एक साता वेदनीय को छोड़कर समस्त कर्म-प्रकृतियों की रोक हो जाती है—उनका संवर हो जाता है। यह ध्यान अपने आप में अत्यन्त निर्मल होता है और इतना निर्मल कि अन्तर्मुहुर्त के भीतर ही कर्मशिरोमणि मोहनीय कर्म को क्षीण अथवा उपशान्त कर देता है। यह ध्यान प्रारम्भ में समस्त द्वाद शांग और उनमें प्रतिपादित पदार्थों को अपना विषय बनाता है परन्तु ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसका विषय सूक्ष्म होता जाता है इतना सूक्ष्म कि अन्त में परमाणु ही इसका विषय रह जाता है। परमाणु, पुद्गल द्रव्य का वह अविभाज्य अंश है कि जिसमें द्रव्य अथवा पर्याय का विकल्प नहीं किया जा सकता। अतः यहाँ परमाणु को द्रव्य और पर्याय दोनों रूप में अवस्थित बतलाया है। इस ध्यान का धारक यदि उपशम श्रेणी मे मरण करता है तो स्वर्ग जाता है और क्षपकश्रेणी के द्वारा यदि आगे बढ़ता है तो नियम से मोक्ष प्राप्त करता है इसमें संदेह नही है ॥२५॥

सुरासुरसमितिसहितसुरेश्वर संक्षोभकारिभुवनाभवनत्रिकालभाविकथं-चिद्भावाभावनित्यानित्यैकानेकव्याप्यव्यापिस्वभावभावावभासिसूक्ष्मासूक्ष्मा-न्तरितवस्तुसाक्षात्कारिबोधदृक्सुखशक्त्यनन्तात्मकात्मरूपावबोधिकेवलज्ञान-स्वभाव सर्वज्ञत्वाविर्भावि द्वितीयं शुक्लध्यानं व्याचिख्यासवस्त्रिभुवन-भव्याम्भोजभानवो धर्म्मध्यानाधिनायका गुप्त्याद्यैत्यादि वावदन्ति सूरयः—

गुप्त्याद्यैः कर्म [1]रुद्ध्वाऽभिपतदुपचितं कर्म सर्वं विधुन्व-
न्नेकत्वोहा[2]विचाराद्वृजिनविजयिनीं वीथिकां गाहमानः।

---

१. रुद्धो—त०। २. त्वेहा—त०।

एकं वाऽऽश्रित्य योगं कमणुमनुसरन् द्रव्यगं भावगं वा
शुक्ले वापि द्वितीये भवति जिनपतिर्घात्यघध्वंसनेन ।।२६।।

भवति सम्पद्यते । कोऽसौ । जिनपति जिनेन्द्रः । केन घात्यघध्वंसनेन ज्ञानदर्शनसुखवीर्यात्मस्वभावंघ्नन्तीतिघातीनि तानि अघानि कर्म्माणि ज्ञानावरण दर्शनावरणमोहनीयान्तरायाणि तत्र ज्ञानावरणं पञ्च प्रकारं मतिश्रुतावधिमनपर्ययकेवलज्ञानावरणमिति। दर्शनावरणं नवविधं चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणमिति निद्रा निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यान गृद्धिरिति । मोहनीयमष्टाविंशतिभेदम् । तद्विविधं दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयञ्चेति । तत्राद्यं त्रिविधं सम्यक्त्वमिथ्यात्व तदुभयभेदात् । द्वितीयं पञ्चविंशति भेदम् । तथाहि क्रोधमानमायालोभाः प्रत्येकं चतुर्विकल्पा अनन्तानुबन्धप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानसंज्वलनरूपाः षोडशकषायाः तथा नव नोकषायाः हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः । अन्तरायं पञ्चविधं दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात् । तानि तेषां ध्वंसनमधः पातनं भ्रंशनमात्मनः पृथक्करणमिति यावत् । तेन, क्व ? द्वितीयशुक्लध्याने एकत्ववितर्कावीचारे । किं कृत्वा । रुद्ध्वा संवृत्य । अनेन संवराभिधानं कृतम् । किम् ? कर्म पौद्गलिक ज्ञानावरणादि । किंभूतम् ? अभिपतदभ्यास्रवत प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशतां व्रजदित्यर्थः । कैः ? गुप्त्याद्यैः गुप्तिराद्या येषां समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयादीनाम् । यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः । प्राणिपीडापरिहारार्थं सम्यगयनं समितिः, मनोज्ञे स्थाने धत्त इतिधर्मः । सम्यच्छरीरादीनामनित्याशुच्यादिचिन्तनमनुप्रेक्षाः बुभुक्षोदन्यादिवेदनोत्पत्तौ कर्म्मनिर्जरार्थं सहनं परीषहस्तस्यजयः परीषहजयः । अत्रादिशब्दाच्चारित्रप्रतिपत्तिः । एतेषां संवरणक्रियायां साधकतमत्वात्करणनिर्देशः । अनेनान्ये तीर्थस्नानदीक्षा शीर्षोपहारदेवताराधनादयो निवर्त्तिता भवन्ति । रागद्वेषमोहोपात्तस्य कर्म्मणोऽन्यथानिवृत्यभावात् । किं कुर्वन् । विधुन्वन् क्षिपन् निर्जरयन् । किम् ? कर्म्म । किंभूतम् ? उपचितम् पुष्टं स्थितिरूपतां नीतम् । कस्मात् ? एकत्वोहाविचारात् । एकत्वेन

दृग्ज्ञानचारित्रात्मकात्मद्रव्यस्योहस्तस्मादवीचारोऽसंक्रान्तिरविचलनं तस्मा-द्ध्यानरूपात्तपसः। ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गं शिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्ति-निमित्तत्वाभ्युपगमात्। कथं निर्जराङ्गं स्यादिति नैष दोषः एकस्याप्यनेक कार्यकरणदर्शनात्। अग्निवत्, यथाग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्मसाङ्गारादादि प्रयोजनमुपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्रकोविरोधः ?। पुनः किंभूतः गाहमानोव्याप्नुवन्। काम् ? वीथिकां मार्गम्। किंविशिष्टाम् ? वृजिनविजयिनीम् वृजिनानि कर्म्माणि विजयतीत्येवंशीला ताम्। कस्मिन् गुणस्थाने कासां कर्म्मप्रकृतीनां जय इति। तत्र चरम शरीरस्यान्यजन्मनि सुरतिर्यक् नरकायुषां क्षयः। चतुर्थासंयताद्यप्रमत्तगुणस्थानान्तेऽनन्तानु-बन्धिचतुष्कं मिथ्यात्वमिश्रसम्क्त्वमिति सप्त प्रकृतयः क्षीयन्ते। अनिवृत्ति-गुणस्थाने, (षट्त्रिंशत् प्रकृतयः क्षीयन्ते) तथाह्यनिवृत्तिर्नवभागीक्रियते। तत्र प्रथमांशे निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिश्वभ्रगति श्वभ्रगत्यानुपूर्वी तिर्यग्गतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्वेकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरातपसूक्ष्मासाधार - णोद्योतानि जीयन्ते। द्वितीयेऽष्टौ कषाया अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानरूपाः क्रोधमानमायालोभाः। तृतीये नपुंसकवेदः। चतुर्थे स्त्रीवेदः। पञ्चमे हास्य-रत्यरतिभयशोकजुगुप्साषट्कम्। षष्ठे पुंवेदः। सप्तमे संज्वलनक्रोधः। अष्टमे मानः। नवमे माया। इति षट्त्रिंशत्प्रकृतयः। सूक्ष्मसाम्परायगुण-स्थाने सूक्ष्मोलोभः। क्षीणकषाय गुणस्थाने द्विचरमसमये निद्राप्रचले-क्षीयेते। अन्त्यसमये चतुर्दश ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमन्तराय-पञ्चकञ्चेति। किं कुर्वन् ? अनुसरन् अनुगच्छन्। कम् ? योगम्। किं-भूतम् ? एकं वापि काययोगमेव कर्मयोगमेव वेत्यर्थः। किं कृत्वा ? आश्रित्य संश्रित्य। कम् ? अणुं परमाणुम्। कथंभूतम् ? द्रव्यगं भावगं वा द्रव्यस्थितं भावस्थित मित्यर्थः। स एव पुनः समूलतूलं मोहनीयं निर्दिधक्षन्ननन्तगुणविशुद्धियोगमाश्रित्य बहुतराणां ज्ञानावरणसहायी-भूतानां कर्म्मप्रकृतीनां सम्बन्धं निरुन्धन् स्थितिनाशक्षयौ च कुर्वन् श्रुत-ज्ञानोपयोगो निवृत्तार्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिरपि चलितमनाः क्षीणकषायो

वैडूर्यमणिरिव निरुपमलेपोध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इत्युक्तम् । एकत्ववितर्क शुक्लध्याने निर्दग्धघातिकर्मेन्धनप्रज्वलितकेवलज्ञानगभस्तिमण्डलो मेघ-पञ्जरनिरोध निर्गति इव घोरघृणिर्देदीप्यमानो भगवांस्तीर्थंकर इतरो वा केवली लोकेश्वराभिगमनीयोऽर्चनीयश्चोक्तकार्येणायुषः समुहूर्ताष्टवर्षोन-पूर्वकोटीं विहरतीति निर्णीतार्थः ॥२६॥

आगे शुक्लध्यान के द्वितीय भेद का स्वरूप और कार्य बतलाते है---

द्वितीय शुक्लध्यान के होने पर यह जीव आनेवाले नवीन कर्म का गुप्ति आदि के द्वारा संवर करके पूर्व संचित समस्त कर्मो की निर्जरा करता हुआ आगे बढ़ता है और संक्रांति रहित एकत्वविनर्क के प्रभाव से पाप समूह को जीतने वाली वीथी में प्रवेश करता है, वहाँ तीन में से किसी भी एक योग का आश्रय कर द्रव्य अथवा भावरूप में अवस्थित परमाणु का ध्यान करता है और क्षण एक में घातिया कर्म रूप पापों का विध्वंम कर जिनेन्द्र बन जाता है ।'

विशेपार्थ--द्वितीय शुक्ल ध्यान का नाम एकत्ववितर्क-वीचार है । यह बारहवें गुणस्थान मे प्रकट होता है इस ध्यान के धारक जीवो के मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो चुकता है और इसी-लिए उनकी इच्छा का अभाव रहता है शब्द अर्थ और योगों की सङ्क्रान्ति का प्रमुख कारण इच्छा है। इस ध्यान में इच्छा का अभाव है अत: संक्रान्ति का भी अभाव ही है । यह ध्यान तीन योगो में से किसी भी एक योग के आलम्बन से होता है । जिस योग के आलम्बन से प्रारम्भ होता है उसी

से उसकी समाप्ति भी होती है। बारहवें गुण-स्थान में केवल सातावेदनीय कर्म का आस्रव बाकी रह जाता है सो उसे भी इस ध्यान का धारक जीव गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के प्रभाव से उत्तरोत्तर कम करता जाता है। जो कर्म पहले से सत्ता में विद्यमान रहते हैं उनकी निर्जरा करता जाता है और ध्यान रूप सम्यक् तप के प्रभाव से बारहवें गुण-स्थान की उपान्त्य तथा अन्तिम अवस्था रूप उस वीथी में प्रविष्ट हो जाता है जहां अवशिष्ट तीन घातिया कर्म और नाम कर्म की तेरह प्रकृतियों पर विजय प्राप्त की जाती है। वहां यह जीव किसी भी एक योग का आलम्बन कर द्रव्य अथवा भावरूप से अवस्थित परमाणु का ध्यान करता है—उसी पर अपने उपयोग को स्थिर करता है तथा क्षण एक में समस्त घातिया कर्म रूप पाप समूह का विध्वंस कर जिनेन्द्र हो जाता है। सयोग केवली जिन कहलाने लगता है ॥२६॥

द्वितीयशुक्लध्यानेद्धोद्धुरधूमध्वजदग्धघातिकर्म्मेन्धनस्य प्रबलबलोद्घट्टितघनाघनसंघघर्मांशोरिव सहजकेवलज्ञानज्योतिः प्रकाशितनिखिलार्थसार्थस्य सार्वस्य भगवतो यज्जायते तदुपदर्शयन्तः परमाचार्याः सा सा लब्धिरित्याद्यनुशासति—

सा सा लब्धिस्ततोऽस्मिन् वपुरतिशयवच्चातुरस्याभिरामं
श्रीर्बाह्याभ्यन्तरी चाद्भुतविभवभवा सर्वसत्वप्रमोदः।
आनन्दोऽन्यानपेक्षो दुरघविगटनाद्वेद्यमस्ति स्वकार्ये
नो ते सार्वस्य[1] तस्मात् प्रभु न च नियमोऽवेष्विवान्येषु यस्मात्॥२७॥

१. तस्याः त०।

भगवति । का ? सा लब्धिः प्रसिद्धा 'नवसंख्या नवलब्धयः' इत्यभिधानात् । कास्ताः ? ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यसम्यक्त्वचारित्रलक्षणाः । तत्र निखिलज्ञानावरणात्यन्तापगमे क्षायिकं केवलज्ञानं, सकलदर्शनावरणविनाशे केवलदर्शन, दानान्तरायस्याशेषत· क्षयादनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानं, लाभान्तरायस्य शेषस्य निराशात् (निरासात्) परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यत् (यतः) शरीर बलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः । कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्योन्मूलनभावादाविभूतोऽतिशयवानन्तो भोगः क्षायिको यतः कुसुमवृष्ट्यादयो विशेषाः प्रादुर्भवन्ति । निरवशेषस्योपभोगान्तरायस्य प्रलयात्प्रादुर्भूता निरुपभोगः (प्रादुर्भूतोऽनन्तोपभोग) क्षायिको यतः सिंहासनचमरछत्रत्रयादयो विभूतयः। वीर्यान्तरायस्य कर्म्मणोऽत्यन्तक्षयात्प्रकर्टाभूत मनन्तवीर्य क्षायिकम् । पूर्वोक्तानां सप्तानां प्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वम् । द्विविधचारित्रमोहापोहात्क्षायिकं चारित्रमिति लब्धिर्व्याख्याता । कस्मात् ? ततो द्वितीयशुक्लध्यानाधिरोहणात् । कस्मिन् ? तस्मिन् जिनपतौ । पुनः किम् ? वपुः शरीरम् । किंभूतम् ? अतिशयवत् अतिशया विद्यन्ते यस्य तत् । कियन्तोऽतिशया ? चतुस्त्रिंशदतिशयाः । तत्र दश सहजाः शश्वन्निःस्वेदत्वादयः । दश घातिक्षयजा गव्यूतिशतचतुष्टय सुभिक्षतेत्यादयः । चतुर्दशदेवोपनीताः 'सर्वार्धमागधी या भाषा मैत्री च सर्वजनतायाः' इत्यादयः । भूयः किंभूतम् ? चातुरास्थाभिरामं चतुर्वक्त्रोपशोभि । मुहुः का ? श्रीर्लक्ष्मीः । किंभूता ? बाह्याभ्यन्तरी च बहिर्भवाऽभ्यन्तरे भवा । तत्राद्या प्रातिहार्यगन्धकुटीसमवसरणादिस्वभावा बाह्या । अनन्तचतुष्टयरूपाभ्यन्तरी । भूयः किंभूता ? अद्भुतविभवभवा त्रिभुवनोदरवर्तिप्राणिगणचित्रविचित्राश्चर्यचमत्कारंकारिणी । कः ? सर्वसत्वप्रमोद· सकलभूतसमूह हर्ष हेतुः । कः ? आनन्दः परमसुखम् । किंभूतः ? अन्यानपेक्षः स्रग्वनिताचन्दनाद्यपेक्षारहितः । कस्मात् ? द्रुरघ विघटनाद् घातिकर्मकलङ्क-

विलयात् । ननु वेदनीय कर्मसद्भावात्परमसुखानुत्पत्तिरितिवदन्तं प्रत्याह-न भवति, किम् ? वेद्यं वेदनीयं कर्म । किंभूतम् ? प्रभु समर्थम् । कस्मिन् ? स्वकार्ये आत्मीय बुभुक्षादिकार्यं करणे । कुतो ? यतः समर्थं भवति वेद्यम् । कस्याः सकाशात् ? मोहनीयान्तरायप्राप्तेर्मोहनीयान्तरायसस्वप्रसिद्धेः कर्मराजत्वादनयोः । यथैव हि सैन्यनायके नष्टे न सैन्यं प्रतिपक्षसैन्य-ध्वंसनादिदु:खोत्पादनसमर्थं तथा वेदनीयमिति । कस्य ? ते तव । सार्वस्य[1] (सर्वहितकरस्य) । नास्ति न विद्यते । को ? नियमः । स्वकार्यकार्ये च तत् । केष्विव ? अघेष्विव । किंभूतेषु ? अन्येषु पृथग्भूतेषु गोत्रनामायुः कर्मस्विव । यथैतान्युच्चैर्गोत्रतीर्थंकरत्वतद्देहस्थितित्वादीनि कार्याणि कुर्वन्त्येवेति नियमो न तथा वेद्येइति निश्चयः । संपन्नकेवलज्ञाने भगवति सयोगिजिने नवकेवललब्ध्यात्मकत्वाच्छायत्वाक्षिपक्ष्मोन्मेष निमेषरहितत्व-चतुर्मुखत्वाद्यतिशयोपेतपरमौदारिकशरीरोपेतत्वान्तरङ्गबहिरङ्गानन्यजना-संभविश्रीसमाश्रितत्व हर्षोत्कर्षत्वपरमसुखत्वविपक्षभूतकर्म्मराशेः प्रध्वंसा-त्सर्वमिदं संपनीपद्यत इति निर्णीतवृत्तसंकलितार्थः ॥ २७ ॥

आगे शुक्लध्यान के द्वितीय भेद में अर्हन्त भगवान् के जो विशेषताएँ प्रकट होती हैं उन्हें बतलाते है—

उस द्वितीय शुक्लध्यान के प्रभाव से अर्हन्त भगवान् के क्षायिक, ज्ञान दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ लब्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, चौतीस अतिशयों से युक्त तथा चारों दिशाओं में दिखने वाले चार मुखों से सहित परमौदारिक शरीर प्राप्त होता है, आश्चर्य-कारक विभव को करने वाली अष्ट प्रातिहार्यादि रूप बाह्य और अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी प्राप्त होती है, समस्त जीवों को आनन्द होता

---

१. सर्वज्ञस्य ।

है, और अन्य पदार्थ के आलम्बन से रहित आत्म सापेक्ष अनंत सुख प्रकट होता है। अरहन्त भगवान् सब का हित करने वाले हैं। उनके मोहनीय कर्म रूपी महादुःखदायी पाप का क्षय हो चुकता है। अतः वेदनीय कर्म यद्यपि विद्यमान रहता है तो भी वह अपना कार्य करने मे समर्थ नही है। जिस प्रकार आयु, नाम और गोत्र कर्म रह कर अपना कार्य करते ही हैं, उस प्रकार वेदनीय कर्म रह कर अपना कार्य करता ही है ऐसा नियम नहीं है।

विशेषार्थ—द्वितीय शुक्लध्यान के प्रभाव से घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे इस आत्मा की जिनेन्द्र या अरहन्त अवस्था प्रकट हो जाती है। उनके केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नौ लब्धियाँ प्रकट हो जाती है। केवलज्ञान के द्वारा वे लोकालोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ जानने लगते है। यह लब्धि ज्ञानावरणकर्म के अत्यन्त क्षय से प्रकट होती है। केवलदर्शन के द्वारा समस्त पदार्थो का सामान्यावलोकन होता है। यह लब्धि दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से उत्पन्न होती है। दानान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से अनन्त प्राणियों का अनुग्रह करने वाला क्षायिक अभयदान प्रकट होता है। लाभान्तराय के क्षय से कवलाहार न होने पर भी परमौदारिक शरीर को स्थिर रखने वाले अनन्त शुभ सूक्ष्म पुद्गल परमाणु शरीर में आकर मिलते रहते हैं। भोगान्तराय के क्षय से पुष्प वृष्टि आदि कार्य होते हैं। उपभोगान्तराय के क्षय से छत्र, चमर

सिंहासन आदि विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्त वीर्य प्रकट होता है और उसके कारण उनकी आत्मा में अनन्त बल विद्यमान रहता है। उनके शरीर में निःस्वेदता आदि दश जन्म के, योजनशतसुभिक्षता आदि दश केवलज्ञान के और अर्धमागधी भाषा आदि चौदह देवकृत, इस प्रकार चौंतीस अतिशय प्रकट हो जाते हैं। समवसरण में चारों दिशाओं में जिनेन्द्र देव का मुख दिखाई देता है। अशोक वृक्ष, छत्रत्रय, सिंहासन आदि आठ महाप्रातिहार्यरूप बाह्य लक्ष्मी हो जाती है और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल इस प्रकार अनन्त चतुष्टय रूप अन्तरंग लक्ष्मी उत्पन्न हो जाती है। उनकी यह द्विविध लक्ष्मी अद्भुत वैभव का कारण है—सामान्य जन को यह वैभव दुष्प्राप्य है। जहाँ ये विद्यमान रहते है वहाँ रहने वाले जीवों के सब दुःख संकट दूर हो जाते हैं, परस्पर के विरोधी जीव भी अपना विरोध भूल जाते हैं और आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। अरहन्त भगवान् की आत्मा में जो आनन्द प्रकट होता है वह अन्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित होता है। संसारी जीवों का आनन्द किसी पदार्थ की इच्छा होने पर उसकी पूर्ति से होता है जैसे क्षुधित मनुष्य को आहार की इच्छा हुई, आहार के मिलने पर उसकी इच्छा पूर्ण हो जाती है अतः वह सुख का अनुभव करता है परन्तु अरहन्त भगवान् को किसी पदार्थ की इच्छा नहीं होती है अतः उनका सुख परापेक्ष न होकर आत्म सापेक्ष रहता है। यद्यपि उनके असाता वेदनीय का उदय रहता है परन्तु मोहनीय

कर्म का क्षय हो जाने से वह दुःख उत्पन्न नही कर सकता। मोहनीय और वेदनीय इन दोनों मे ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यही कारण है कि अरहन्त के वेदनीय कर्म के उदय मे होने वाले क्षुधा आदि ग्यारह परीषह होते है परन्तु वे दुःख उत्पन्न नही कर सकते। यहाँ कोई प्रश्न करे कि जिस प्रकार आयु नाम और गोत्र ये तीन अघातिया कर्म रहकर अपना-अपना कार्य करते है उसी प्रकार वेदनीय कर्म भी अपना कार्य करता होगा और उसके फलस्वरूप अरहन्त भगवान के क्षुधा तृषा आदि परीषहो का दुःख होता होगा और जब दुःख होता होगा तब अनन्त सुख किस प्रकार सिद्ध होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है कि जिस प्रकार आयु,नाम और गोत्र रहकर अपना कार्य करते हैं। उस प्रकार वेदनीय कर्म रह कर अपना कार्य करता ही हो ऐसा नियम नही है। यदि वेदनीय के साथ मोहनीय कर्म का उदय रहता है तो वह अपना कार्य करता है और मोहनीय कर्म का उदय नही रहता है तो वह अपना कार्य करने मे असमर्थ हो जाता है। दशम गुणस्थान तक मोहनीय कर्म का उदय रहता है अतः वहां तक वेदनीयकर्म का उदय आत्मा मे सुख दुःख का वेदन कराता है परन्तु ग्यारवे गुणस्थान मे मोहनीयकर्म का उपशम और उसके आगे क्षय हो जाता है अतः निमित्त के अभाव में वेदनीय कर्म अपना काम नहीं कर सकता। अरहन्त भगवान् ससार के समस्त प्राणियों को उपदेश देते हैं, देते ही नहीं उनके दर्शन या सन्निधान मात्र से जीव सुख का अनुभव

करने लगते हैं इसलिए वे सार्व-सर्वहितकर्ता कहलाते हैं ।।२७।।

झटितिप्रकटतीव्रानुष्ठानकाष्ठाम्बरवृत्तिं विहाय वपुःपरिपोषणपण्डा-पटिष्ठप्रकटोत्कटकूटकपटसितपटा मृगधूर्ताइवातिधूर्त्ता वृन्दारकेन्द्रवृन्दवन्द्य-पादारविन्दस्य सर्व्वज्ञस्य संपन्नकेवलज्ञानस्य देहस्थितित्वान्यथानुपपत्तेः कवलाहारं संगिरन्ते तान्निराचिकीर्षवो यत्रान्येत्यादि वावदन्ति सूरय :—

यत्रान्येऽप्यङ्गभाजो नहि सदसि बुभुक्षादि वाध्या[1] स्तवामी
तद्बाधा तत्र किं ते न च तदुदयवद्वेद्य मन्नादनाम ।
सामान्याहारहेतावपि मदभिमतं स्थायिताङ्गेऽन्थास्ति
देवे स्यादन्यथातो रतिरखिलसुखं नास्ति भुक्तौ हि युक्ति[2] ।।२८।।

नास्ति न विद्यते । का ? युक्तिरूपपत्तिः । कस्याम् ? भुक्तौ भोजने । कुतो ? हि यस्मात् । नहि नैव क्षुदादिवाध्या नैव बुभुक्षापिपासादिपीडनीयः । कस्याम् ? यस्मिन् सदसि यस्मिन् समवसरणे । के ? अङ्गभाजो मनुष्याः । किम्भूताः ? अन्ये सर्वज्ञव्यतिरिक्ता अपि । कस्य ? तव ते । किम् ? भवन्ति । का ? तद्बाधा तस्य क्षुदादेः । क्व ? तत्र समवशरणे । कस्य ? ते तव । ननु चाप्तस्य क्षुदभावे आहारादौ प्रवृत्यभावाद्देहस्थितिर्नस्यादस्ति चासौ तस्मादाहारसिद्धिः । तथाहि भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका देह-स्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत् । अत्र किमाहारमात्रं प्रसाध्यते कवलाहारो वा । प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम् । आहारमात्रस्यास्माभिरभ्युपगमात् । आस-योगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारो देवानां सर्व्वदा कवलाहाराभावेऽप्यस्याः संभवात् । अथ मानसाहारात्तेषां तत्स्थितिस्तर्हि केवलिनां कर्म्मनोक-र्म्माहारात्सास्तु । अथ मनुष्यदेहस्थितित्वादस्मदादिवत् सा तत्पूर्व्विकेष्यते । तर्हि तद्वदेव तद्देहे निःस्वेदत्वाद्यभावः स्यात् । अस्मदादावनुपलब्धस्यापि तदतिशयस्य तत्र संभवे भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यतिशयः किन्न स्यात् ।

१. वाधा न. २. मुक्तिः त. ।

अस्मदादौ वृष्यस्य धर्म्मस्य च भगवति प्रसाधने तज्ज्ञानस्येन्द्रियजत्वप्रसङ्गः। तथाहि भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वादस्मदादिज्ञानवत्। अतो भगवतः केवलज्ञानलक्षणातीन्द्रियज्ञानासंभवात् सर्वज्ञत्वाय दत्तो जलाञ्जलिः। ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे देहस्थितित्वाविशेषेऽपि तद्देहस्थिते रकवलाहारपूर्वकत्वं किन्न स्यात्। अथ वेदनीयसद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तेर्भोजनादौ प्रवृत्ति रित्यप्यनुपपन्नमित्याह न च तदुदयवद्वेद्यम्। न च नैव। तत्प्रसिद्धम्। उदयवदुदयप्राप्तं वेद्यं वेदनीयम्। किमर्थम्? अन्नादनाय अन्नादननिमित्तम्। तर्हि भवतु। क्व? सामान्याहारहेतौ। शुभसूक्ष्मदेहस्थितिनिबन्धनपरमाणुसम्बन्धनिमित्तम्। तत्किम्भूतम्? मदभिमतं ममाभिप्रेतम्। कुतो? यतः स्थायिता भवति स्थितिस्त्वम्। क्व? अङ्गे शरीरे। कथम्? अन्यथापि कवलाहारमन्तरेणापि। कुतो? मोहनीयकर्म्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात्। भोक्तुमिच्छाहि बुभुक्षा सा मोहनीयः मंकार्यत्वात्कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात्। अन्यथा स्याद् भवेत्। क्व? देवे। रतिः, रिरंसाया अपि तत्र सद्भावात्। कमनीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरात्तस्याविशेषाद् वीतरागता न स्यात्। विपक्षभावनावशाद्रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षसिद्धेः वीतरागतासंभवः। कस्मात्? द्रव्यभावात् क्रीडाभावात्। तर्हि भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किन्न स्यात्। भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्। तथाहि, एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुङ्क्ते विपक्षभावनावशात्स एव पुनरेकवारं भुङ्क्ते, कश्चित्पुनरेकदिनान्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमाससम्वत्सराद्यन्तरित भोजन इति। किञ्च, बुभुक्षायाः पीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद् भवेत् तदास्वादनञ्चास्य रसनेन्द्रियात्केवलज्ञानाद्वेत्याह। रसनेन्द्रियाच्चेन्मति ज्ञानप्रसङ्गात्केवलज्ञानाभावःस्यात्। केवलज्ञानाच्चेत्? किं भोजनेन, दूरस्थस्यापि त्रैलोक्योदरवर्त्तिनो रसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसंभवात्। कथञ्चास्य केवलज्ञानसंभवो भुञ्जानस्य श्रेणीतः पतितत्वेन प्रमत्तगुणस्थान-

र्जितत्वात् । अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन् भुञ्जानोऽपीति महच्चित्रम् । अस्तु वा तज्ज्ञानसंभवस्तथाप्यसौ केवलज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि पश्यन् कथं भुञ्जीत ? अन्तरायप्रसङ्गात् । गृहस्था अप्यपलाशत्वात्तानि पश्यन्तोऽन्तरायं कुर्व्वन्ति किं पुनर्भगवाननन्तवीर्यस्तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि हीनसत्त्वप्रसङ्गात् । क्षुत्पीडासंभवे वास्य कथमनन्तं सौख्यं स्याद्यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामित्वं स्यात् । नहि सान्तरस्या (सान्तस्या) नन्तता युक्ता ज्ञानवत् । न च बुभुक्षापीडैव न भवतीत्यभिधातव्यम् 'क्षुधा समा नास्ति शरीरवेदने' त्यभिधानात् । तस्मात्केवलिनः कवलाहारकल्पनं न युक्तम् । विशिष्टस्य सततसुखमतः सदैवानन्तसुखसहितस्येति । यत्सभासंनिविष्टसत्त्वमात्राणां सार्व्वसमीपान्मृत्यूत्पत्त्यातङ्ककोपमदनोन्मादनिद्रारोगाशनायादिपीडा न संगच्छते (इति) वेदनमागमिकम् । तदुक्तम् 'तत्र न मृत्युर्जन्म च विद्वेषो नैव मन्मथोन्मादः रोगातङ्कबुभुक्षा पीडा च न विद्यते काचित् ॥' तस्यैव क्षुदादिपीडितत्वं ब्रुवाणोऽप्रेक्षापूर्वकारितां सूचयत्यात्मनः । यदि भुक्त्यभ्युपगमस्तर्हि रिरंसाभ्युपगमनीयेति भवानीपतेरविशेषात् । अथैतद्दोषाद्विभ्यता रिरंसा नेष्यते तर्हि कवलभुक्तिरपि नाभ्युपगन्तव्येति व्यक्तौ कृतार्थवृत्तपदसमूहार्थः ॥ २८ ॥

आगे केवली के कवलाहार होता है इसका निराकरण करते हैं——

हे भगवन् ! आपको जिस समवसरण सभा में अन्य प्राणी भी क्षुधा आदि से पीड़ित नहीं होते वहां आपको ये बाधायें कैसे हो सकती हैं ? यद्यपि आपके वेदनीय कर्म का उदय है तथापि वह कवलाहार का निमित्त नहीं है——इतना तीव्र नहीं है कि उससे विवश होकर आपको अन्न का भोजन करना पड़े । वह सामान्य आहार का कारण है । लाभान्तराय कर्म के क्षय से

प्रति समय जो शुभ सूक्ष्म और अन्य मनुजासाधारण पुद्गल परमाणु आते हैं, उन्हें ग्रहण करा कर ही वेदनीय का काम पूरा हो जाना है। शरीर की स्थिरता के लिये कवलाहार की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह तो अन्य प्रकार से भी हो सकती है जैसा कि देव के शरीर में होती है। यदि कारण के अभाव में भी आपके कवलाहार माना जावे तो रति सुख भी मान लिया जावे, परन्तु रति सुख नही माना जाता क्योंकि उससे वीतरागता नष्ट होती है। कवलाहार ग्रहण की इच्छा होने पर जब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो जावेगी तब तक आकुलताजन्य दुःख भी रहेगा और तब उस दशा में आपके अनन्त सुख कैसे रह सकेगा? इस प्रकार विचार करने पर 'केवली भोजन करते हैं इसमें कोई युक्ति नही मालूम होती।'

विशेषार्थ—कितने ही लोग कहते हैं कि अरहन्त भगवान् के असाता वेदनीय का उदय रहता है अतः क्षुधा आदि परिषह होते हैं और उनके निवारणार्थ वे साधारण मनुष्यों के समान कवलाहार भी करते हैं। यहां ग्रन्थकर्ता उक्त मत का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि अरहन्त भगवान् के समवसरण में रहने वाले अन्य जीव भी जब क्षुधा तृषा आदि की बाधा से दुःखी नहीं होते तब अरहन्त भगवान् किस प्रकार दुःखी हो सकते हैं?

प्रश्न—यदि अरहन्त भगवान् की आहारादि में प्रवृत्ति नहीं होती है तो उनके शरीर की स्थिति किस प्रकार सम्भव

है ? अस्मदादि के शरीर की स्थिति, आहारादि में प्रवृत्ति करने से ही संभव है ?

उत्तर—यहां आहार से आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं ? सामान्य आहार की सिद्धि करना चाहते हैं अथवा कवलाहार की। प्रथम पक्ष में सिद्ध साधन है क्योंकि सामान्य आहार तो हम भी स्वीकृत करते हैं। आगम में भी उल्लेख है कि सयोग केवली गुणस्थान तक सब आहारक रहते हैं। द्वितीय पक्ष में देवों के शरीर की स्थिति से व्यभिचार आता है क्योंकि कवलाहार न होने पर भी देवों के शरीर की स्थिति देखी जाती है।

प्रश्न--देवो के मानसिक आहार होता है अतः उससे उनका शरीर स्थिर रहता है ?

उत्तर—यदि ऐसा है तो अरहन्त भगवान् के भी तो कर्म और नोकर्म आहार जारी रहता है।

प्रश्न—देवों का शरीर वैक्रियिक शरीर है अतः उसकी बात दूसरी है परन्तु अरहन्त का शरीर औदारिक शरीर है, अस्मदादि के शरीर के ही समान है अतः उसकी स्थिरता के लिये आहार ग्रहण करना आवश्यक है ?

उत्तर—यदि हमारे शरीर के साथ उनके शरीर की तुलना करते हो तो जिस प्रकार हमारे शरीर में निःस्वेदत्व का अभाव है—पसीना आता है—मल-मूत्र निकलता है इसी प्रकार उनके शरीर में भी यह आपत्ति होनी चाहिये।

प्रश्न—निःस्वेदत्व आदि का होना यह तो अरहन्त भगवान का अतिशय है ?

उत्तर—तो कवलाहार न होने पर भी उनका शरीर स्थिर रहा आता है यह अतिशय क्यों नहीं हो सकता ?

इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि जो धर्म अस्मदादि में देखा जाता है यदि उसकी सिद्धि अरहन्त भगवान् में की जावेगी तो उनका ज्ञान भी इन्द्रियज ज्ञान कहलाने लगेगा। यहां ऐसा अनुमान भी बनाया जाने लगेगा कि अरहन्त का ज्ञान इन्द्रियज ज्ञान है, ज्ञान होने से, अस्मदादि के ज्ञान के समान और ऐसा करने से अरहन्त के केवलज्ञानरूपी अतीन्द्रिय ज्ञान असंभव हो जायगा एवं उस दशा में सर्वज्ञता के लिये जलाञ्जलि देनी पड़ेगी।

प्रश्न—इससे क्या हुआ ? उनका ज्ञान, ज्ञान होने पर भी अतीन्द्रिय है इन्द्रियज नहीं।

उत्तर—यदि ऐसा है तो यह भी माना जा सकता है कि उनका औदारिक शरीर है अवश्य, पर उसकी स्थिति कवलाहार पर अवलम्बित नही है।

प्रश्न—उनके वेदनीय कर्म का उदय है अतः उससे क्षुधा तृषा आदि की वेदना होती है और उसे दूर करने के लिये अरहन्त कवलाहार ग्रहण करते हैं ?

उत्तर—उनके वेदनीय कर्म का उदय है पर वह इतना तीव्र नहीं जो आहार ग्रहण करने के लिये प्रेरित कर सके। आहार की इच्छा असाता वेदनीय की उदीरणा से होती है जो कि छठवें गुणस्थान तक ही सीमित है।

प्रश्न—फिर उनका असाता-वेदनीय का उदय निःसार ठहरेगा क्या ?

उत्तर—निःसार क्यों ठहरेगा ? लाभान्तराय कर्म के क्षय से प्रत्येक समय शुभ, सूक्ष्म और असाधारण पुद्गल परमाणु आकर अरहन्त के शरीर के साथ मिलते रहते हैं। वेदनीय का काम इसी से पूर्ण हो जाता है। खाने की इच्छा को बुभुक्षा कहते हैं यह इच्छा मोहनीय कर्म के उदय से होती है और क्योंकि अरहन्त होने के पहले ही मोहनीय कर्म का क्षय हो चुकता है अतः उनके बुभुक्षा का होना संभव ही नहीं है।

प्रश्न—इच्छा के बिना ही उनके कवलाहार हो जाता है ?

उत्तर—तो, इच्छा के बिना रति क्रिया भी मान ली जावे क्या हानि है ? और उसके मानने पर वीतरागता समाप्त हो जावेगी तथा शिव-महादेव की अपेक्षा अरहन्त में कोई विशेषता नहीं रह जावेगी।

प्रश्न—विपक्ष भावना के वश रागादि में हीनाधिकता देखी जाती है अतः अरहन्त भगवान् में राग हानि का परम प्रकर्ष संभव है। जिस वस्तु में हीनाधिकता देखी जाती है उस वस्तु की हीनता की अन्तिम सीमा होती है और अधिकता की भी अन्तिम अवधि होती है। हम देखते हैं कि किसी के कम राग है किसी के उससे अधिक है और किसी के उससे भी अधिक है तो इस राग-द्वेष और राग वृद्धि की चरमसीमा होना चाहिये। शिव-महादेव में राग-वृद्धि की चरमसीमा है क्योंकि उसने अपने शरीर को ही अर्द्ध-नारी रूप बना लिया है और अरहन्त भग-

वान में राग हानि की चरमसीमा का परम प्रकर्ष है क्योंकि वे समस्त वस्तुओं का परित्याग कर चुकते हैं ?

उत्तर—यही बात आहार ग्रहण में भी योजित की जा सकती है। कोई मनुष्य दिन में दश बार खाता है, कोई एक बार खाता है, कोई एक दिन के अन्तर से खाता है और कोई दो-चार, दश-बीस आदि दिन के अन्तर से खाता है इससे यह सिद्ध होता है कि कोई ऐसा भी व्यक्ति हो सकता है जो बिलकुल ही नही खाता हो और वह अरहन्त ही है।

इसके सिवाय दूसरी बात विचारणीय यह है कि बुभुक्षा जन्य पीड़ा की निवृत्ति भोजन के रसास्वाद से ही होती है यहाँ यह विकल्प उठाया जा सकता है कि अरहन्त भगवान् के जो भोजन का रसास्वाद होता है वह रसना-इन्द्रिय से होता है या केवलज्ञान से ? यदि रसना इन्द्रिय से होता है तो उनके मतिज्ञान का प्रसंग आ जावेगा तथा केवलज्ञान का अभाव हो जावेगा। इस दोष से वचने के लिये यह माना जावे कि केवलज्ञान से भोजन का रसास्वाद होता है तो उन्हें भोजन की आवश्यकता ही क्या है क्योंकि वे अपने केवलज्ञान के द्वारा त्रिलोकवर्ती रस का आस्वाद सदा करते ही रहते हैं, यह रस कितनी ही दूर क्यों न हो और इस दशा में उनके केवलज्ञान का होना भी सिद्ध नही होगा क्योंकि आगम में बताया है कि भोजन करने वाले मुनि श्रेणी से पतित होकर छठवे प्रमत्त-विरतगुण स्थान में आ जाते हैं। अप्रमत्त साधु आहार की कथा मात्र से प्रमत्त हो जाते हैं फिर अरहन्त भगवान भोजन करते

हुए भी प्रमत्त नहीं होंगे यह कैसे कहा जा सकता है ? अथवा दुष्ट तुष्टि न्याय से कथंचित् अरहन्त के भोजन काल में केवलज्ञान मान भी लिया जावे तो उससे दूसरी आपत्ति यह खड़ी होती है कि केवलज्ञान में जहां उत्तम पदार्थ दिखते है वहीं मांसादि अपवित्र पदार्थ भी तो दिखते हैं। फिर मांसादि को प्रत्यक्ष देखते हुए भी वे आहार कैसे ग्रहण करेंगे ? अमांस भोजी गृहस्थ भी भोजन काल में मांसादि के दिखने पर अंतराय मानता है और भोजन करना छोड़ देता है, फिर अनन्त वीर्य के धारक अरहन्त भगवान् इस अन्तराय का विचार न करें यह संभव नहीं। यदि नहीं करेंगे तो गृहस्थ की अपेक्षा भी हीनता का प्रसंग आ जावेगा। इसके सिवाय एक बात विचारणीय और है वह यह कि यदि अरहन्त के भूख की पीड़ा होती है और उसे दूर करने के लिए वे आहार ग्रहण करते हैं; ऐसा माना जावे तो उनके अनन्त-सुख सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि यह कहा जावे कि भगवान् के क्षुधा की पीड़ा ही नहीं होती तो यह ठीक नहीं। क्योंकि लोक में भी प्रसिद्ध है कि 'क्षुधा समा नास्ति शरीर वेदना' अर्थात् क्षुधा के समान अन्य शारीरिक पीड़ा नहीं है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि अरहन्त भगवान् के क्षुधा तृषा आदि की पीड़ा नहीं होती और न वे कवलाहार ही ग्रहण करते हैं ॥ २८ ॥

अपवर्गमार्गोद्धारकग्रन्थ ग्रन्थ्यानभिज्ञाभ्युपगततिर्यग्गत्यादिगमनमिथ्यात्वोग्रमहाग्रहगृहीतापाङ्गोपचयाङ्गमङ्गीकुर्व्वाणा अङ्गनायत्तत्वाद्ग्रासादिसंपत्तेरिति तदनुग्रहाय तासामपि निखिलकर्म्मापगमलक्षणो मोक्षोऽस्ती-

लिगीर्मुक्मकार्षुः सिताम्बराः। साक्षेपं तान्निराकुर्वाणा देवेत्यादि रंरणन्ति सूरयः—

देवाधीते सुधीर्वाप्यनुपहतमतिःकोऽबलास्त्वत्पदस्य
योग्या आचारलाभे परममरपदं तेषु त्वद्रूपवत्सु।
स्थानं नैवोत्तरेषु प्रतिनिधिनिधिषु क्लीबयोषिज्जनानां
दौश्चित्याविशेषे यदपि न नरवच्छ्वभ्रमुच्चैर्भजन्ते ॥२६॥

हे देव भगवन् कः पुमानधीते कः श्रद्धानं कुर्यान्न कोऽपीत्यर्थः। किं भूतः? सुधीः शोभनबुद्धिः। मुहुः किं भूतः? अनुपहत मतिः संशय-विपर्ययानध्यवसायानुपद्रुतज्ञानः। किम्? योग्या अर्हा भवन्ति। कास्ताः? अबलाः, कस्य? त्वत्पदस्यार्हत्स्थानस्य मोक्षस्येत्यर्थः। कुतो? यतो भवति। किम्? अमरपदं देवस्थानम्। किंभूतम्? परमिन्द्रस्वरूपम्। केषु? तेषु योषिज्जनेषु युवतिलोकेषु। किंभूतेषु? त्वद्रूपवत्सु अर्हद्रूपयु-क्तेषु। पुनः किंभूतेषु? प्रतिनिधिनिधिषु प्रतिबिम्बनिधानेषु। कस्मिन्? आचारलाभेसति आचारप्राप्तो सत्याम्। केषाम्? क्लीब योषिज्जना-नाम् हीनवनितालोकानाम्। नैव न च भवति पदम्। केषु? उत्तरेषु विजयवैजयन्तापराजितसर्व्वार्थसिद्धिषु। न पुनरेवानन्तबोधादिस्वभावा-पवर्ग इत्यनुपपन्नं वनितानामप्यस्य संभवात्। तथाहि भवति वनितानाम-पवर्गः समग्रसाधनत्वात् नरवत्। अत्र वनितानामपवग साध्ये समग्रसा-धनत्वादित्ययं हेतुरुपन्यस्तो वर्तते सोऽसिद्धः। तथाहि अपवर्गनिबन्धनो ज्ञानादिपरमप्रकर्षो वनितासु न संभवति परमप्रकर्षत्वात् महातमःप्रभाभू-मिभवनपापपरमप्रकर्षवत्। कुत एतदित्यत्राह न चेत्यादि। न च भजन्ते नैव गच्छन्ति। किम्? श्वभ्रं नरकम्। कथम्? उच्चैः सप्तमम्। किंवन्नरवत् मनुष्यवत्। काः? अबलाः। कस्मिन्नप्यविशेषेऽपि विशेषा-भावेऽपि। कस्य? दौश्चित्यस्य? पापचित्तस्य। यदि हि सप्तमपृथ्वीसा-धनपापप्रकर्षाभावोऽपवर्गनिबन्धनरत्नत्रयपरमप्रकर्षाभावे किमायातं साध्य-

साधनव्याप्यव्यापकभावसिद्धावनयोस्तथाभिधानं युक्तं कथमन्यथाऽन्यस्यापायेऽन्यस्यासंभवेऽतिप्रसङ्गो न स्यात्। शशशृङ्गाभावे सर्वस्याप्यभावः स्यादितिचेत् सम्यगिदम्। परमयं नियमोऽस्ति यद्वेदस्यापवर्गनिबन्धनपरमप्रकर्षस्तद्वेदस्य सप्तम पृथ्वीगमनसाधनपापपरमप्रकर्षोऽपि विद्यत एवेति। यथा पुरुष वेदस्य। नह्यान्त्यकायेन व्यभिचारः, पुरुषवेदसामान्यापेक्षयोक्तेरन्यथा नियमो न भवत्येव। अथवा नोक्तानुमाने तत्साधनेनः परमप्रकर्षाभावाद्धेतोरपवर्ग निबन्धनपरमप्रकर्षो वा तासु निषिध्यतेऽपितु परमप्रकर्षत्वाग्निदर्शनोपलब्धसाध्यव्याप्तिकात्। नचात्र केनचिद् व्यभिचाराः, वनितासम्बन्धिनः कस्यचित्परमप्रकर्षस्यासंभवात्। मायापरमप्रकर्षोऽस्तीति चेत्? न, वनितानां मायाबाहुल्यमात्रस्यैव प्रवचने प्रसिद्धेरन्यथा नरकम्महातमोभूमिप्रसङ्गो दुर्निवारः स्यात्। 'मायापरमप्रकर्षादन्यत्वे सति' इति विशेषणाद्वा न दोषः। तस्मान्न संवेदनादिपरमप्रकर्षोऽपवर्गनिबन्धनस्तत्रास्तीति प्रसिद्धो हेतुः। नो नाम संवेदनादयो यथा नरे प्रकर्षपर्यन्तप्राप्ता मानतः प्रतीयन्ते तथा नारीषु अन्यथा नपुंसकेऽपि तथास्युः। एवं चास्याप्यपवर्गप्रसङ्गः। चारित्रं तु तन्निबन्धनं वनितानामसंभाव्यमेव। तथाहि योषितां न संयमोऽपवर्गनिबन्धनो नियमेव ऋद्धिविशेषा निबन्धनत्वान्यथानुपपत्तेः। यत्र हि संयमः सांसारिकलब्धीनामप्यहेतुस्तत्रासौ कथं निखिलकर्म्मविनाशस्वभावापवर्गहेतुः स्यात्। नियमेन वनितानामेव ऋद्धिविशेषनिबन्धनः संयमो नेष्यते नतु पुंसां। यदि हि नियमेन लब्धिविशेषाजनकः संयमः क्वचिदन्यत्राविवादमंदिरेऽपवर्गनिबंधनः सिद्ध्येत तदा तन्निदर्शनवशेनात्राप्यसौ तथा प्रत्येतुं शक्यतेनान्यथातिप्रसङ्गात्। संयममात्रं तु सदपि वनितानां न तान्निबन्धनं तिर्यग्गृहस्थसंयमवत्। सवासःसंयमत्वाच्च नासौ तद्धेतुर्गृहस्थ संयमवत्। नचायमसिद्धो हेतुः। नहि वनितानामवस्त्रः संयम उपलब्धः प्रवचनप्रतिपादितो वा। न चागमाभावेऽप्यपवर्ग सुखाकांक्षया वनितानां सिचयत्यागो युक्तोऽर्हत्प्रोक्तागमोल्लङ्घनेन मिथ्यात्वानुगमनानुषङ्गात्। यदि पुनः पुंसामवस्त्रोऽसौ तन्निबन्धनो वनितानां सवस्त्रस्तर्हि

साधनभेदादपवर्गस्यापि भेदापत्तिरनुषज्येत स्वर्गादिवत् । श्रावकसंयमानुवर्तिनोऽपि मोक्षप्राप्तेः । एवं च लिङ्गादानमयुक्तं स्यात् । तथास्मादप्यनुमानान्नापवर्गसुखसङ्गिन्योऽङ्गनाः । तथाहि नाङ्गनापवर्गीयसंयमसङ्गिनी मुनिवन्दनायोग्यत्वाद् गृहस्थवत् । नचासिद्धं साधनमागमतस्तत्प्रसिद्धेः । तदुक्तम्—[1]"वर्षशतदीक्षितयाप्यद्यदीक्षितया प्राद्यदीक्षितः साधुः । स्तवनाभिगमननमनैः परिपूज्योऽसौ तया नूनम्' । इत्यभिधानात् । तथा बहिरङ्गान्तरङ्गपरिग्रहवत्त्वाच्च न नार्योमुक्तिमन्त्यो गृहस्थवत् । नचायमसिद्धो हेतुः प्रत्यक्षनिर्णीतो हि सिचयादानादिर्बाह्यपरिग्रहोऽन्तरङ्गस्वशरीरानुरागादि परिग्रहमनुमापयति[2] । तथा च न जिनादयोऽपवर्गसङ्गिनस्तत्कथयितारो वा भवेयुः किंतु सचेला गृहस्था एव मुक्तिसङ्गिनः स्यु । नचाचेलत्वं नेष्यते '[3]आचेलक्योद्देशिकशय्यागृहराजभोजकृतिकर्मोत्पादः पुंसां प्रतिछेद—इति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात् । किञ्च, उपात्तेऽपि सिचये जीवव्यथा तदवस्थैव, तेनावृत्तहस्तपादप्रदेशोष्मभावेन तद्धिंसा परिहारायोगात् । वाससः लिक्षाद्यनेकजीवाविर्भावाधारत्वाच्च तथा विधस्याप्यस्यादाने कचलुंचनादिक्रिया व्यर्थैव भवेत् । वसनाक्षेपप्रतिक्षेपोत्पन्नपवनेनाङ्गनाङ्गप्रदेशस्थितजीवव्यथनाच्च व्यजनादिव भवेत् । किञ्चैवमनेकजन्तुजातोपघातनिषेधार्थं विहारप्रतिबन्धोऽस्तु वसनादानवदविशेषात् । यथा यज्ञाचारः पशुहिंसाहेतुना पाप निबन्धनत्वात्त्याज्य एव तथा वसनमप्यविशेषात् । एतेन संयमोपध्यर्थं तदित्यपि निरस्तम् ।

१. वरिसमयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू । अभिगमणवंदणणमंसण विणएण सो पुज्जो ॥ (प्रमेय० मार्तण्ड)

२. अत्र निम्नाङ्कितः पाठस्त्रुटितोभाति—न च शरीरोष्मणा वातकायिकादिजन्तूपघातनिवारणार्थं स्वशरीररागाद्यभावेऽप्यसावुपादीयते इत्यभिधेयम्, पुंसामाचेलक्यव्रतस्य हिंसात्वानुषङ्गात् ।...

३. 'आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहर रायपिंड किदिकम्म'...

किञ्च बहिरङ्गान्तरङ्गपरिग्रहपरित्यागः संयमः सच प्रार्थनसीवनप्रक्षालन-शोषनिक्षेपादानमलिम्लुचापहारादिमनः संक्षोभहेतौ वसने स्वीकृते कथं भवेत्। प्रत्युत चश्चच्चारित्र व्याघातकार्यं तद् भवेत् बाह्याभ्यन्तरनैर्ग्रन्थ्यप्रतिबन्धत्वात्। किञ्च "स्त्री शीतार्त्तिनिवृत्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते। कामिन्यादिस्तथा किन्न कामदुःखादिशान्तये ॥ येन येन बिना दुःखं पुंसां समुपजायते। किं तत्सर्वमुपादेयं लावकादि पलादिकम् ॥ वस्त्रभागे गृहीतेऽपि विरक्तो यदि तत्त्वतः। स्त्रीमात्रेऽपि तथा किन्न तुल्याक्षेपसमाधितः ॥ स्त्रीपरीषहभग्नैश्च बद्धरागैश्च विग्रहे वस्त्रमादीयते यस्मात्सिद्धं ग्रन्थद्वयं-ततः ॥" न च स्वीकृतेऽपि वस्त्रे ममेदं भावस्याभावात् तदास्ते। विरोधनात्। मनीषापूर्वकं हि स येन (हस्तेन) निपतितं वसनमादाय परिदधानोऽपि मूर्च्छाविरत इति कः सचेतनः श्रद्दधीत। तन्वङ्गीपरिष्वङ्गसङ्गिनोऽपि तद्विहितत्वप्रसङ्गात्। ततो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहादानान्नैर्ग्रन्थद्वयापायाश्च वनितानामपवर्गः। सहि बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनोत्पाद्यःकार्यत्वान्माषपाकादिवत्। तच्च बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनं नैष्किञ्चन्यं तदभावे कथं स्यादित्यन्यहेतोरसिद्धेर्नानुमानाद्वनितापवर्गसिद्धिः। नाप्यागमात्, तदपवर्गप्रतिपादकस्यागमस्याभावात्। [1]"नरवेदमनुभवन्तो ये पुरुषाः क्षपकतामनुप्राप्ताः। शेषोदयेनापि तथा ध्याननियुक्ता (हि) सिध्यन्ति" ॥ इत्यादेरप्यागमस्य वनितापवर्गाभिधानकत्वाभावः। स हि पुरुषवेदोदयवच्छेषवेदोदयेनापि पुंसामेवापवर्गवेदकः। उभयत्रापि पुरुष इत्यभिसम्बन्धात् उदयश्च भावस्यैव। द्रव्यवनितान्यथानुपपत्तेश्चतासां न मुक्तिः। आगमे हि जघन्येन सप्ताष्टभिर्भवै रुत्कर्षेण द्वित्रैर्भवैर्जीवस्य रत्नत्रयाराधकस्यापवर्गोऽभिहिताः। यदा चास्य सम्यग्दर्शनाराधकत्वं तत्प्रभृति सर्वासु स्त्रीषूत्पत्तिरेव न भवतीति कथं वनितानामपवर्गसिद्धिः। ततो नास्ति वनितानामपवर्गो नरादन्यत्वान्नपुंसकवत्, अन्यथास्याप्यसौ स्यात्। तथास्मादप्यनुमानाश्च

१. पुं वेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥ प्र. मा.

तासां मुक्तिसिद्धि स्तथाहि न हि वनितानामपवर्गोऽस्ति असामान्य-ध्यानफलत्वात् सप्तम नरकगमनवदिति । ततोऽनन्तज्ञानाद्यात्मलाभस्वभावो मोक्षः पुरुषस्यैवेतिप्रेक्षादक्षैर्लक्षितव्य इति । सांशयिक मिथ्यात्वतम-स्तिरस्कृतयथार्थदर्शनं श्वेतवाससमुत्सृज्य नान्यः प्रेक्षावानङ्गनानामपवर्ग संगति संगिरते । यासां हि संयमलाभेऽप्यच्युतपतित्वमेव संपनीपद्यते नोत्तरेष्वहमिन्द्रत्वमिति न ललनानां मोक्षलक्ष्मीसमागमो युक्तिसङ्गति-मङ्गतीति व्याख्यातवृत्ततात्पर्यार्थः ॥ २६ ॥

आगे श्वेताम्बर संमत स्त्री-मुक्ति का खण्डन करते हैं—

हे भगवन्! जिसका ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से उपद्रुत नही है ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य श्रद्धान करेगा कि स्त्रियां भी आपका पद—मोक्ष पद प्राप्त करने के योग्य है। जिन दीक्षा से युक्त स्त्रीजनों में संयम का लाभ होने पर यदि कोई पद होता है तो उत्कृष्ट अमर पद—इन्द्र पद ही प्राप्त होता है। नपुसक और स्त्रियों का स्थान उत्तर विमानों में —सोलहवें स्वर्ग के आगे विमानों में नहीं होता । यही नही, पाप की समानता होने पर भी नपुंसक और स्त्रियां मनुष्य के समान सातवें नरक में स्थान नहीं प्राप्त कर सकती ।

विशेषार्थ— स्त्रियां भी हमारे मत की ओर आकर्षित रहें इस उद्देश्य को लेकर श्वेताम्बर लोग स्त्री शरीर से साक्षात् मोक्ष होता है ऐसा निरुपण करते हैं और इसका समर्थन करने के लिये निम्नलिखित अनुमान प्रदर्शित करते है—

प्रश्न—'स्त्री को भी मोक्ष होता है, समग्र साधन होने से पुरुष के समान' अर्थात् जिस प्रकार साधनों की पूर्णता होने से

पुरुष को मोक्ष होता है उसी प्रकार साधनों की पूर्णता होने से स्त्री को भी मोक्ष होता है ?

उत्तर—यह ठीक नहीं है क्योंकि इस विषय की सिद्धि की लिये जो समग्र साधनत्व हेतु दिया है वह असिद्ध है। मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञानादि गुणों मे परम प्रकर्षता—सर्वोत्कृष्ट अवस्था —केवल ज्ञानादि रूप दशा का प्रकट होना कारण है जो कि स्त्रियों के सम्भव नहीं है। जिस प्रकार स्त्रियों के महातमप्रभा नामक सप्तम पृथिवी में उत्पन्न कराने योग्य पाप की उत्कृष्ट दशा नहीं हो पाती उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त कराने वाले ज्ञानादि गुणों की उत्कृष्ट दशा नहीं हो पाती और उसके न होने से साधन में समग्रता सिद्ध नहीं हो पाती।

प्रश्न—यदि स्त्री के सप्तम पृथिवी में जन्म प्राप्त कराने में कारणभूत पाप की प्रकर्षता का अभाव है तो इसमें मोक्ष की प्राप्ति के कारण भूत रत्नत्रय की प्रकर्षता का अभाव होने में क्या बात आ जाती है ? यदि इन दोनों में साध्य-साधन अथवा व्याप्य-व्यापक भाव होता तो ऐसा कहना उचित भी होता परंतु यहाँ ऐसा कोई साध्य-साधन अथवा व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है अत: उक्त बात का मानना संगत नहीं है। यदि बलात् यह बात रखना ही इष्ट है कि एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव होता है तो यह भी रखा जा सकता है कि यत: खरगोश के सींग का अभाव है अत: सभी पदार्थों का अभाव है ?

उत्तर—आपका कहना ठीक है परन्तु यह नियम है कि जिस वेद में मोक्ष प्राप्ति में कारणभूत रत्नत्रय का परमप्रकर्ष

होता है उस वेद में सप्तम नरक में कारणभूत पाप का भी परमप्रकर्ष होता है जैसा कि पुरुष वेद के होता है। स्त्री वेद के यह विशेषता नहीं अतः स्त्री वेद का धारी जीव मोक्ष नहीं जा सकता...यह बात सिद्ध होती है।

प्रश्न–इस कथन में चरम शरीर के साथ दोष आता है क्योंकि चरम शरीर में मोक्ष प्राप्त करने की सामर्थ्य होने पर भी सप्तम नरक प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं है ?

उत्तर—उक्त कथन सामान्य पुरुष वेद की अपेक्षा है। अन्य प्रकार से उक्त नियम संभव नहीं है। अथवा उक्त अनुमान में सप्तम पृथिवी की प्राप्ति में कारणभूत पाप की परम प्रकर्षता के अभाव रूप हेतु से स्त्रियों में मोक्ष प्राप्ति में कारण भूत रत्नत्रय की परम प्रकर्षता का अभाव सिद्ध नहीं किया जा रहा है किन्तु यह सिद्ध किया जा रहा है कि स्त्रियों में किसी भी वस्तु का परम प्रकर्ष नहीं होता। ऐसा मानने में दोष भी नही है।

प्रश्न—दोष क्यों नहीं है ? स्त्रियों में माया की परम प्रकर्षता तो पाई जाती है ?

उत्तर—नहीं, आगम में यह बताया है कि स्त्रियों में माया की बहुलता है, यह नहीं बताया कि उनके माया की परम प्रकर्षता होती है। यदि माया की परम प्रकर्षता होती तो पुरुष के समान वे भी सप्तम नरक में उत्पन्न होती। अथवा माया को छोड़ कर अन्य वस्तुओं की स्त्रियों में परम प्रकर्षता नहीं होती...ऐसा विशेषण-परक अर्थ लगाने से कोई दोष नहीं रह

जाता। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार ज्ञानादि-गुण पुरुष में परम प्रकर्षता को प्राप्त होते हैं उस प्रकार स्त्रियों में नहीं। अन्यथा नपुंसकों में भी उनका परम-प्रकर्ष मानना पड़ेगा जिससे उनके भी मोक्ष का प्रसङ्ग आ जावेगा। इसके सिवाय स्त्रियों के ऐसा चारित्र भी तो नहीं होता जो मोक्ष का कारण माना जा सके। स्त्रियों के जो चारित्र होता है उससे उनके किसी ऋद्धि की उत्पत्ति नहीं होती अतः यह कहा जा सकता है कि जो चारित्र अथवा संयम सांसारिक लब्धियों का भी कारण नहीं है वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकेगा? यह बात स्त्रियों के ही है पुरुषों के नहीं। पुरुषों का संयम अनेक ऋद्धियों का कारण है। यदि कहीं ऐसा उदाहरण मिलता कि जो संयम ऋद्धि विशेष का कारण नहीं है वह भी मुक्ति का कारण होता है तो यह बात स्त्रियों में भी मान ली जाती। यद्यपि स्त्रियों के सामान्य संयम है परन्तु वह तिर्यञ्च अथवा गृहस्थ मनुष्य के संयम के समान मुक्ति का साधन नहीं है। इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि स्त्रियों का संयम वस्त्र सहित होता है अतः वह गृहस्थ पुरुष के संयम के समान मुक्ति का कारण नहीं है। स्त्रियों के वस्त्र-रहित संयम न देखा गया है और न ही आगम में उसका उल्लेख है। आगम में उल्लेख न होने पर भी मोक्ष सुख की इच्छा से स्त्रियां वस्त्र का त्याग कर दें यह कहना उचित नहीं है क्योंकि जिनेन्द्र प्रणीत आगम का उल्लंघन कर अन्यथा प्रवृत्ति करने से मिथ्यात्व का प्रसंग आ जावेगा। यदि ऐसा माना जाय कि पुरुषों का वस्त्र

रहित संयम मोक्ष का कारण है और स्त्रियों का वस्त्र सहित। तो यह मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि साधन में भेद होने से साध्य में भी भेद हो जावेगा, जैसा कि स्वर्गादि में भेद होता है। और जब वस्त्र रखते हुए स्त्रियों को मोक्ष हो जाता है तो वस्त्र रखने वाले श्रावकों ने क्या अपराध किया ? उन्हें भी मोक्ष हो जाना चाहिये। इस प्रकार निर्ग्रन्थ लिङ्ग का धारण करना व्यर्थ सिद्ध हो जावेगा।

इसके सिवाय निम्नाङ्कित अनुमान से भी स्त्रियों के मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है। 'स्त्रियों के मोक्ष प्राप्त कराने वाला संयम नहीं होता, क्योंकि वे मुनियों द्वारा वंदना करने के अयोग्य हैं, गृहस्थ के समान'। यह साधन असिद्ध नही है क्योंकि आगम से इसकी सिद्धि होती है। आगम में लिखा है कि आज का दीक्षित साधु सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका के द्वारा स्तवन, संमुख-गमन और नमस्कार आदि से पूज्य है। अतः स्त्रियां बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों परिग्रहों से युक्त है अतः उनके मोक्ष नहीं होता। यहाँ हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि वस्त्रादि बाह्य परिग्रह तो प्रत्यक्ष ही दिख रहा है वही शरीर सम्बन्धी अनुराग आदि अन्तरङ्ग परिग्रह का भी अनुमान करा देता है। यदि यह कहा जावे कि शरीर की गर्मी से वायु-कायिक आदि जीवों का विघात न हो इस अभिप्राय से स्वशरीर-सम्बन्धी राग न होनेपर भी वस्त्र का ग्रहण होता है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि इससे वस्त्र का त्याग करने वाले मुनियों के हिंसा का प्रसङ्ग आ जावेगा। उनके शरीर की गर्मी से भी तो वायु-

कायिक आदि जीवों का विघात सम्भव है और ऐसी दशा में नग्न रहने वाले अर्हन्त भगवान् भी मोक्ष प्राप्त न कर सकेंगे और न उसका उपदेश भी। स्वस्थ गृहस्थ ही अहिंसक कहलावेंगे और वे ही मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे। यदि यह कहा जावे कि 'मुनि वस्त्र रहित होते हैं' यह हम नहीं मानते तो यह कहना ठीक नही क्योंकि आगम में जो दस प्रकार के कल्प बतलाये हैं उनमें वस्त्र रहित मुनि का उपदेश दिया गया है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि वस्त्र ग्रहण करने पर भी साधु हिंसा के दोष से बच नही सकते क्योंकि जिन पर वस्त्र का आवरण नहीं ऐसे हस्तापादादि अवयवों की गर्मी से जीव हिंसा होती ही रहेगी। वस्त्र में भी यूकादि सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होने लगेंगे जिनकी हिंसा का बचाना असम्भव होगा। मस्तक तथा स्कन्ध आदि अवयवों से वस्त्र जब नीचे खिसक जावेगा तब उसे ऊपर उठाकर ठीक करना पड़ेगा और ऐसा करने से वायुकायिक जीवों का भी विघात होगा। यही क्यों, अनेक जीवों के विघात का कारण होने से मुनियों के बिहार की भी रुकावट हो जावेगी। जिस प्रकार पाप का कारण होने से पशु-हिंसा-जन्य यज्ञ छोड़ने योग्य है उसी प्रकार वस्त्र भी छोड़ने योग्य कहलावेगा। मयूरपिच्छ के समान वस्त्र भी संयम का उपकरण है अतः उसके धारण करने में दोष नहीं होना चाहिये ऐसा किन्हीं का कहना है सो इसका भी उक्त उल्लेख से निराकरण हो जाता है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना संयम कहलाता है। जीर्ण हो जाने पर नये

वस्त्र को याचना करना अथवा सुई धागा से सीना, धोना, सुखाना, उठाना और चोरों के द्वारा चुराया जाना आदि कारणों से मन मे क्षोभ उत्पन्न होता है तथा इसका मूल कारण वस्त्र है, तब वस्त्र संयम का उपकरण कैसे माना जा सकता है। संयम का उपकरण तो दूर रहा वह उल्टा असंयम का उपकरण हो जाता है। यदि यह कहा जावे कि लज्जा तथा शीत आदि की पीड़ा दूर करने के लिये वस्त्र ग्रहण किया जाता है तो फिर काम का दुःख दूर करने के लिये स्त्री आदि का ग्रहण कर लेना उचित है। यही क्यों ? जिस-जिस वस्तु के बिना पुरुषों को दुःख होता है वह सभी उपादेय क्यों नहीं होना चाहिए जैसे कि लावकादि पक्षियों का मांसादि भी। यहां यह कहा जावे कि वस्त्र का अंश ग्रहण करने पर भी यथार्थ मे विरक्त रहा जा सकता है परन्तु स्त्री के ग्रहण करने पर विरक्त नहीं रहा जा सकता तो यह कहना ठीक नही, क्योंकि स्त्री के विषय में भी यह आक्षेप और समाधान दिया जा सकता है। स्त्री के रहते हुए भी पुरुष विरक्त रह सकता है ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ? अरे ! स्पष्ट बात तो यह है कि जो स्त्री परिषह के जीतने में कातर है और शरीर से जिनका राग नही छूटा है वे ही वस्त्र को ग्रहण करते हैं। इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि जहाँ वस्त्र है वहीं दोनों परिग्रह विद्यमान हैं और परिग्रह के रहते हुए संयमी कहलाना पूर्ण विडम्बना है। यदि यह कहा जाय कि परिग्रह का लक्षण तो ममेदंभाव—यह मेरा है, इस प्रकार का परिणाम है। जिस प्रकार मयूरपिच्छ

और कमण्डलु रखते हुए भी उनमें ममेदंभाव नहीं होने से मुनि परिग्रही नहीं कहलाते उसी प्रकार वस्त्र के रहते हुए भी ममेदं-भाव का अभाव होने से मुनि परिग्रही नही कहला सकता ? तो यह कहना ठीक नही, क्योंकि ममेदंभाव के बिना वस्त्र का सद्भाव हो ही नहीं सकता । यदि वस्त्र नीचे खिसक जाता है या गिर जाता है तो उसे हाथ से उठाकर पुनः यथास्थान धारण किया जाता है । यह सब क्रिया ममेदंभाव के बिना ही होती है ऐसा कौन सचेतन विश्वास करेगा । अन्यथा स्त्री का आलिङ्गन आदि करने पर भी पुरुष का उसमें ममेदंभाव नहीं कहलावेगा । कहने का तात्पर्य यह है कि वस्त्र के सद्भाव में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों परिग्रह विद्यमान रहते हैं अतः स्त्रियों के मोक्ष नहीं हो सकता । जिस प्रकार उड़द का पाक बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों साधनों पर अवलम्बित है उसी प्रकार मोक्ष भी बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों साधनों पर अवलम्बित है । निष्परिग्रहता ही मोक्ष का बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधन है स्त्री के इन दोनों का अभाव है अतः मोक्ष नहीं हो सकता ।

इसके सिवाय आगम में भी कही ऐसा उल्लेख नही मिलता जिसमें कि स्त्री को मोक्ष होना बतलाया हो ।

प्रश्न—आगम में यह तो स्पष्ट लिखा है कि 'पुरुष वेद का अनुभव करते हुए पुरुष क्षपक श्रेणी को प्राप्त हो सिद्ध होते हैं अन्य वेदों—स्त्री तथा नपुसक वेदों का भी अनुभव करने वाले पुरुष ध्यान में लीन होकर सिद्ध हो जाते हैं ।' इस आगम में स्त्री

वेदी तथा नपुंसक वेदी को भी मोक्ष होना बतलाया है फिर कैसे कहा जाता है कि आगम में स्त्री मुक्ति का उल्लेख नही है ?

उत्तर—आगम वाक्य का आप गलत अर्थ लगा रहे हैं। उसका सही अर्थ यह है कि जो पुरुष, पुरुष-वेद का अनुभव करते हुए क्षपक-श्रेणी पर आरूढ होते हैं वे मुक्ति को प्राप्त होते हैं साथ ही अन्य वेदों—स्त्री और नपुसक वेदों का भी अनुभव करने वाले पुरुष ध्यान मे निमग्न हो मुक्ति को प्राप्त होते हैं। यहाँ दोनों ही स्थलों में 'पुरुषा' इस पद का सम्बन्ध लगाना चाहिये। कर्मभूमिज मनुष्य के बाह्य मे पुरुष होने पर भी अन्तरङ्ग में स्त्री अथवा नपुंसक वेद का उदय हो सकता है ऐसे जीव यदि क्षपक-श्रेणी पर आरूढ होकर ध्यान निमग्न हो जाते हैं तो मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। उक्त आगम मे यह तो नही लिखा कि स्त्री अथवा नपुंसक वेद का अनुभव करने वाली स्त्री ध्यान निमग्न हो मुक्त हो जाती है। आगम मे ऐसा लिखा है कि जो यथार्थ रूप से (करणानुयोग की पद्धति से) रत्नत्रय की आराधना करता है वह जघन्य रूप से सात आठ भवों में और उत्कृष्ट रूप से दो तीन भवों मे मुक्ति प्राप्त कर लेता है। फिर जब से यह जीव सम्यग्दर्शन की आराधना करता है तब से इसका स्त्रियो मे जन्म ही नही होता है। सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गति की स्त्रियों में उत्पन्न नही होता यह बात आगम में सर्वत्र उपलब्ध है। जब कि सम्यग्दृष्टि-जीव का स्त्रियों में जन्म ही नहीं होता तब स्त्री को मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा कहना कैसे सगत हो सकता है।

स्त्री की मुक्ति नहीं होती इस विषय में एक अनुमान यह भी हो सकता है कि यत: मोक्ष विशिष्ट ध्यान का फल है अत: स्त्री को मोक्ष नहीं हो सकता। जिस प्रकार कि स्त्री के सप्तम नरक में ले जाने वाला विशिष्ट अशुभ—रौद्रध्यान नहीं होता उसी प्रकार उसके मोक्ष प्राप्त कराने वाला विशिष्ट शुभध्यान—शुक्लध्यान भी नहीं हो सकता। इस सब कथन का सारांश यह है कि स्त्रियां अधिक से अधिक तपश्चरण करने पर भी सोलहवें स्वर्ग से आगे नहीं जा सकती और अधिक से अधिक पाप करके भी छठवें नरक से नीचे नहीं जा सकतीं। श्वेताम्बर मतानुयायी को छोड़ कर अन्य कोई बुद्धिमान स्त्री को मोक्ष होता है ऐसा निरूपण नहीं करते। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए संस्कृत टीकाकार ने आचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेय-कमल-मार्तण्ड का आश्रय लेकर स्त्री मुक्ति खण्डन का विशद विवेचन किया है। संस्कृत टीका और प्रमेय-कमल-मार्तण्ड का आश्रय लेकर इस विशेषार्थ में मैने भी उक्त विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ॥२६॥

जरूथमन्थरप्रमथ सार्थकदर्थ्यमानभृङ्गिप्रमुख गणनाथप्रवितततीर्थोपासनमनोरथेडेहागडडकप्रवाहप्रतोषित भृङ्गानीपतीन् भौतिकेन्द्रियवावमदमेदुरवदनप्राप्तलमुण्डमुण्डलभसितपाण्डुपिण्डतपस्विनः करतलकलितकुवलफलवदखिलं त्रिकालत्रिलोकविषयं वस्तुकदम्बकं केवलज्ञानेन साक्षात्कलयति केवलिनि वीतरागे व्यजनवैजयन्तीविततसितातपत्रत्रयादिकं किमपि नास्तीति विवदमानान् निराकुर्वाणा भक्तिप्राग्भारप्रह्वामरेन्द्रादिदेवसंदोहोपरचितगन्धकुट्याद्यष्टमहाप्रातिहार्यान्तं प्राज्यसाम्राज्यसुखं तत्रास्तीत्युपदर्शयन्तः पौष्पीवृष्टीत्यादिना नन्दन्ति सूरयः—

पौष्पी वृष्टिः प्रभाणां वलयमसदृशं दुन्दुभीनां निनाद-
स्त्रीणिच्छत्राण्यशोको द्युतरुरुभयतश्चामराणां प्रचारः ।
उक्तिश्चित्राभिधेये हरिभिरभिधृतं पीठमत्यद्भुतार्था
लक्ष्मीरन्यापि शक्रः परिचरति मुदा देवसाम्राज्यमेतत् ॥ ३० ॥

परिचरति करोति । कः ? शक्रः शचीपतिः । किम् ? देवसाम्राज्यं देवैः कृतं देवस्य वा साम्राज्यं सम्राटत्वम् । किंभूतम् ? एतत् प्रत्यक्षी भूतम्। कया ? मुद्रा हर्षेण। यत्र किम् ? भवति। का वृष्टिर्वर्षणं प्रकिरः। किम्भूता ? पौष्पी मन्दारकुन्दकुवलयकोकनदपुष्पाणामियम् । तथा किम् ? वलयम् । कासाम् ? प्रभाणाम् तेजसाम् । किंभूतम् ? असदृशमद्विती-यम् । मुहुः कः ? निनादोध्वनिः । केषाम् ? दुन्दुभीनां सार्धद्वादशकोटी-वाद्यानाम् । पुनः कानि ? छत्राणि । कतिसंख्योपेतानि ? त्रीणी । तथा कः ? अशोकः कङ्केलिः । तथा द्युतरुः देव वृक्षः । तथा कः ? प्रचारः प्रवृत्तिः । केषाम् ? चामराणां चतु.षष्टिप्रकीर्णकानाम् । कथम् ? उभयतो द्वारोभयपार्श्वे । तथा का ? उक्तिः सर्वाङ्गीणोध्वनिविशेषः । क्व ? चित्राभिधेये नानाप्रतिपाद्ये । तथा किम् ? पीठं मतल्लिका । किंभूतम् ? अभिधृतमूढम् । कैः ? हरिभिः सिंहैः । तथा का ? लक्ष्मीः । किंभूता ? अन्याप्यपरापि । भूयः किंभूता ? अत्यद्भुता साश्चर्यप्रयोजना । अयत्न-रत्नचयचूर्णधूलीसालामलकोपलचञ्चच्चन्द्रकान्ताद्यनेक माणिक्यप्राका-रान्तःस्थितनानानाट्यशाला नटल्लटहदेवाङ्गनापाङ्गसंगलत्कुतूहल निलिम्पसंकुलामानमानमेरु मूलोन्मूल नवलालमानस्तम्भचतुष्टयोपशोभि प्रसूनसौरभभ्रमरभामिनीमञ्जुगुञ्जच्चन्दनचम्पकाद्यशोकाद्यनेकानोकहोद्यान वल्लीवनखातिकापरिक्षिप्तमालाध्वजादिकदलीसन्तान पद्मरागपुष्परागा-नेकरत्नस्तूपेन्द्रनीलप्रवाल मुक्ताफलोपकल्पिततोरणोच्छलन्नानाभीषु-सन्तानसंपादिताकाशपितान समवसरणं कनककमलप्रचारं भक्तिप्रणत-मौलिराखण्डलः स्वयमित्थं देवसाम्राज्यं विदधातीति प्रणीतवृत्त-संहत्यर्थः ॥ ३० ॥

आगे द्वितीय शुक्लध्यान के फलस्वरूप प्राप्त हुए अष्ट प्रातिहार्यों का वर्णन करते हैं—

'पुष्प वृष्टि, अनुपम भामण्डल, दुन्दुभियों का शब्द, छत्रत्रय, देवनिर्मित अशोक वृक्ष, चामरों का प्रचार, विविध पदार्थों का निरूपण करने वाली दिव्य-ध्वनि, सिंहों के द्वारा धारण किया हुआ आसन, आश्चर्यकारी अद्भुत लक्ष्मी और बड़े हर्ष के साथ इन्द्र द्वारा परिचर्या का किया जाना, हे भगवन् ! यह सब आपका साम्राज्य है'।

विशेषार्थ—कर्मो की १४८ प्रकृतियों में तीर्थंकर प्रकृति सर्वश्रेष्ठ प्रकृति है। शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से ६३ प्रकृतियों का क्षयकर जब तीर्थंकर भगवान् तेरहवें गुण-स्थान मे पहुँचते हैं तब उनके तीर्थंकर प्रकृति का उदय शुरू होता है। उसके प्रभाव से समवसरण में देवों द्वारा अष्ट प्राति-हार्यरूप महाविभूति प्रकट हो जाती है। विस्तृत समवसरण के मध्य गन्धकुटी में जिनेन्द्रदेव अन्तरीक्ष विराजमान रहते हैं। देवनिर्मित रत्नमयी सिंहासन होता है, उस पर कमल की रचना होती है, उस कमल के चार अंगुल ऊपर अन्तरीक्ष में श्री जिनेन्द्र देव विराजमान रहते हैं, उस सिंहासन के पाद, सिंहों के द्वारा धारण किये हुए होते हैं, पास ही अशोक वृक्ष होता है। इसके विषय में अन्यत्र ऐसा लिखा मिलता है कि भगवान् को जिस वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान उत्पन्न होता है समवसरण में वही अशोक वृक्ष कहलाता है अर्थात् उसी वृक्ष के आकार का देव-निर्मित वृक्ष भगवान के सिंहासन के समीपस्थ होता है। भगवान्

के पीछे अनुपम भामण्डल होता है उस भामण्डल का ऐसा विचित्र प्रभाव होता है कि उसमे दर्शकों को अपने सात सात भव दिखते हैं। देवों के द्वारा, मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षो के पुष्पो की वर्षा होती है। साढ़े बारह करोड़ दुन्दुभियों का मनोहर शब्द होता है। भगवान् के सिर पर छत्रत्रय शोभा देते हैं। यक्ष चौंसठ चमर ढारते हैं। नाना पदार्थों को निरूपण करनेवाली दिव्यध्वनि प्रकट होती है। इसका ऐसा अतिशय होता है कि वह उद्गम-स्थान से निरक्षर होने पर भी श्रोताओं के कर्ण कुहर तक पहुंचते-पहुंचते साक्षर हो जाती है और सब श्रोता उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं। समवसरण की समग्र लक्ष्मी आश्चर्य उत्पन्न करती है। अधिक क्या कहा जाय, देवराज इन्द्र भी उस समवसरण में सामान्य किङ्कर की तरह परिचर्या करता है। अर्हन्त जिनेन्द्र का साम्राज्य ऐसा अनुपम साम्राज्य है ॥३०॥

ननु निखिलावबोध साक्षात्कृतसकल ज्ञानज्ञेयध्यातव्य स्मरणीयार्था-भावान्नष्टमोहत्वाच्च विचित्रचिन्ताभावा द्विधेः पूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्येत्येक-चिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानं भगवति न संभवतीति सामयिका विप्रति-पद्यन्ते तेषां विप्रतिपत्ति परिजिहीर्षवो वदन्ति कर्मन्दिवृन्दारका ध्येय मित्यादि—

ध्येयं स्मार्यं न किञ्चिद्भगवति निखिलाध्यक्षपक्षावसेये,
तत्रैतद्ध्यानमीहाऽसमकलुषतया तत्समत्वाय यापि।
तत्साम्ये तद्व्यपायावहसमयसमावेक्षणा वा मनीषा,
नो चेदात्म प्रदेशव्यसनसमसनारम्भणो वा प्रयत्नः ॥३१॥

नास्ति किम् ? ध्येयं ध्यानीयं तथा स्मार्यं स्मर्तव्यम् । किम् ? किञ्चिदपि वस्तु । क्व ? भगवति जिने । किंभूते ? निखिलाध्यक्षपक्षा वसेये निखिलं सकलमध्यक्षपक्षं प्रत्यक्षपक्षमवसेयं ज्ञातव्यं यस्य तस्मिन् । भवति । किम् ? ध्यानम् । क्व ? तत्र सर्वज्ञे । किम् ? एतत्प्रत्यक्षीभूतम् । का ? या ईहा चेष्टा प्रवृत्तिः । कस्मै ? तत्समत्वाय तेषामघातिकर्मणां समत्वं समस्थितिकत्वं तस्मै यावन्मात्रमेवायुः कर्म्म तावन्मात्रमेव नाम-गोत्र वेदनीय कर्माणि कर्तुमित्यर्थः । कया ? असमकलुषतया विषम स्थिति कर्मतया । पुनर्ध्यानम् । का ? मनीषा विज्ञानपरिणतिर्वा । किंभूता ? तद्व्यपायावहसमयसमावेक्षणा तेषामघाति कर्म्मणां व्यपायो विप्लोषः पृथक्करणमित्येकार्थः । तमावहति प्रापयति सचासौ समयः क्षणस्तस्य समावेक्षणमवलोकनं यस्याः साकस्मिन्नपि तत्साम्येऽपि । तेषां कर्मणां समस्थिति कत्वेऽपि । नो चेदथवा ध्यानम् । कः ? प्रयत्नो वा प्रयत्न एव । किं भूतम् ? आत्मप्रदेशव्यसनसमसनारम्भणः आत्मा जीवस्तस्य प्रदेशा जीवसंश्लेष स्वभाव नामगोत्रवेदनीयपरिणामा स्तेषां व्यसनं दण्डादिरूपतमाक्षेपणं समसनं लोकप्रतररूपेणारोपणं तयो-रारम्भणं समानः सः । नहि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया ज्ञानानन्दाद्यनेकस्व-भावस्य परात्मनो ध्यानरूपतास्ति परं प्रामाणिकैः प्रमाणनयनिरूपण-प्रवणैः प्रत्यक्षादि प्रमाणैः परमात्मनि तथा तथा स्वाभाविकीं परिणतिं परिच्छेद्य तत्तद्ध्यानोपचरोपदेशः कृत इति व्याकृतवृत्तसंकलितार्थः ॥ ३१ ॥

आगे समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले केवली भगवान् के एकाग्रचिन्ता-निरोधरूप ध्यान किस प्रकार सम्भव है यह कहते हैं—

'समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले जिनेन्द्र भगवान् के यद्यपि ध्यान करने योग्य अथवा स्मरण करने के योग्य कोई पदार्थ नहीं है फिर भी उनके ध्यान होता है ऐसा व्यवहार है

और उस व्यवहार का कारण यह है कि किन्हीं-किन्हीं केवलियों के आयु कर्म की स्थिति कम और वेदनीय, नाम तथा गोत्र कर्म की स्थिति अधिक होती है। कर्मों की इस विषम स्थिति को सम करने के लिये केवली भगवान् को जो चेष्टा या प्रवृत्ति होती है उसे ध्यान कहते हैं। अथवा उन चारों अघातिया कर्मों की स्थिति की समानता होनेपर उनके क्षयकाल का अवलोकन करने वाली जो विज्ञानमय परिणति है उसे ध्यान कहते हैं। अथवा यदि इसे ध्यान नहीं माना जावे तो दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक-पूरण रूप समुद्घात के समय फैले हुए आत्म प्रदेशों को संकुचित करने के लिए केवली भगवान् का जो प्रयत्न होता है उसे ध्यान समझना चाहिए।

विशेषार्थ—किसी एक पदार्थ मे अन्तर्मुहूर्त के लिए ज्ञानोपयोग का स्थिर हो जाना ध्यान कहलाता है। ध्यान का यह लक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान में अच्छी तरह घटित हो जाता है क्योंकि यह क्रमवर्ती होता है, परन्तु केवलज्ञान तो एक साथ समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है। ऐसा कोई पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहता जिसका कि उनके केवलज्ञान में प्रत्यक्ष न हो रहा हो। ऐसी दशा में इस प्रश्न का होना स्वाभाविक है कि केवली भगवान् के ध्यान किस प्रकार सम्भव है ? आगम में उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरत-क्रिया-निवर्ती ये दो शुक्लध्यान बतलाये भी हैं। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तेरहवे गुणस्थान में होता है और व्युपरतक्रियानिवर्ती चौदहवें गुण-स्थान में होता है। इसका समाधान इस प्रकार है कि मात्र ज्ञानोपयोग

की स्थिरता को ही ध्यान नहीं कहते किन्तु आत्मप्रदेशों की निष्कम्प दशा प्रकट होने को भी ध्यान कहते हैं। सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यान में निष्कम्प दशा का प्रागभाव है और व्युपरत क्रियानिवर्ती में उसकी पूर्णता है। किन्ही केवलियों की आयु कर्म की स्थिति अल्प रह जाती है और अवशिष्ट तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक होती है। अतः उन अविशिष्ट तीन अघातिया कर्मों की स्थिति आयुकर्म के बराबर करने की उन्हें जो भी चेष्टा करनी पड़ती है उसे ध्यान कहा है। अब प्रश्न यह होता है कि जिन केवलियों के चारों अघातिया कर्मों की स्थिति समान है और इसीलिए जिन्हें समीकरण का प्रयत्न नहीं करना पड़ता है उनके ध्यान किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि ऐसे केवलियों के अघातिया कर्मों के क्षयकाल का समवलोकन करनेवालो जो ज्ञानपरिणति है वही ध्यान कहलाती है अथवा आत्म-प्रदेशों के विस्तार को संकुचित करने के लिए केवलीभगवान् का जो प्रयत्न है वह ध्यान कहलाता है। इन उल्लिखित विवक्षाओं द्वारा केवली भगवान् में ध्यान का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥३१॥

पूर्ववृत्तोदितव्यसनसमसनपदार्थमविदधानाः सकलतत्त्व शास्त्रगहनावगाह निर्णीताध्यात्मसाराः सारसारस्वतरसस्पन्दसाद्रीकृतनिखलभुवनाभोगाः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तृतीयं शुक्लध्यानं व्याचिख्यासवोऽनूचानचक्रेश्वरा आयुषीत्यादि दंध्वनन्ति—

आयुष्यन्तर्मुहूर्ते सति समयचतुष्कावधावेव काले,
कृत्वा दण्डं कपाटं प्रतरमथ जगत्पूरणं चाप्यसौ स्वम्।

संक्षिप्याघातिकर्माहितसदृशदशः पूर्वदेहप्रमाणः,,
सूक्ष्मैकाङ्गोऽन्ययोगप्रविगमकरणात्स्यात्सयोगी तृतीये।३२।

स्याद्भवेत्। कः ? सयोगी सयोगिजिनः। किम्भूतः ? सूक्ष्मैकाङ्गः सूक्ष्मं सकलजगद्व्यापिस्वभावरचितमेकमद्वितीयमङ्गं कायो यस्य सः। कस्मात् ? अन्ययोगप्रविगमकरणात्। अन्यः परः सयोगः कर्म तस्य प्रविगमो विनाशस्तस्य करणं निर्व्वर्तनं तस्मात् सर्ववाङ्मानसकाययोगं बादरं काययोगं च विहाय सूक्ष्मकाययोगमवलम्बत इत्यर्थः। क्व ? तृतीये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्याने। मुहुः किंभूतः ? अघातिकर्माहितसदृशदशः अघातिकर्म्मणां वेद्यायुर्नामगोत्राणामाहिता कृता सदृशदशा समावस्था येन सः। भूयः किंभूतः ? पूर्व्वदेहप्रमाणः समुत्पन्नकेवलज्ञान शरीरमात्र इत्यर्थः। किं कृत्वा ? संक्षिप्य क्षिप्त्वा। कम् ? स्वमघाति कर्मावष्टब्धात्मानम्। संक्षेपणमपि किम् ? कृत्वा। कृत्वा, किम् ? दण्डं दण्डाकारात्मप्रदेशं तथा कपाटं कपाटाकारात्मप्रदेशं तथा प्रतरं पूर्व्वापर जगद् विभागाच्छादनं तथा अथ अहो जगत्पूरणं सकललोकपूरणं। क्व ? आयुषि प्राणनि जीवितव्य इति यावत्। किंभूते ? अन्तर्मुहूर्ते द्विघटिका घटनकाले। कस्मिन् ? काले। किम्भूते ? समयचतुष्कावधानेव समयचतुष्टयपरिमाण एव। कस्मिन् ? समये दण्डाकारप्रदेशान्विन्यस्य तस्मिन्नेव संहृत्य पुनर्द्वितीये समये कपाटाकार विधानं संहरणे विधाय। मुहुस्तृतीये प्रतराकारप्रदेशसर्जन—विसर्जन[1] च भूयश्चतुर्थसमये लोकपूरणकरणसंहारे च कृत्वेत्यर्थः। यदा पुनरन्तर्मुहुर्तशेषायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिशेषकर्मव्ययो भवति योगी तदात्मोपयोगातिशयस्य सामायिकसहायस्य महासंवरस्यालघुकर्मपरिपाचनस्याशेषकर्मरेणपरिशातन शक्तिस्वाभाव्यदण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वा समुपहृतप्रदेशविसरणः समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टयपूर्व-

१ दृशः त.

शरीरप्रमाणोभूत्वा च सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं ध्यायतीति व्याख्यातवृत्तसमुदायार्थः ॥ ३२ ॥

आगे सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती शुक्लध्यान का वर्णन करते हैं—

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु के शेष रहने पर चार समयों में जिन्होंने अपने आपको दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण के रूप किया है तथा उतने ही समय में अपने आत्मप्रदेशों को संकुचित कर जिन्होंने पूर्व शरीर प्रमाण कर लिया है एवं इस क्रिया से अघातिया कर्मों की स्थिति समान कर दी है ऐसे सयोग केवली भगवान् जिनेन्द्र तृतीय शुक्लध्यान के समय अन्य योगों का अभाव कर मात्र सूक्ष्म काय-योग को धारण करने वाले रह जाते हैं'।

विशेषार्थ—आत्म प्रदेशों के परिष्पन्द को योग कहते हैं। मानवात्मा में यह परिष्पन्द मन वचन और शरीर सम्बन्धी क्रियाओं से होता है। यही तीन योग कहलाते हैं। मनुष्य के प्रारम्भ से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तीनों योग होते हैं। नोइन्द्रियमतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के जो विचाराविचार शक्ति प्रगट होती है उसे भावमन कहते हैं। भावमन क्षायोपशमिक ज्ञान की परिणति है और यतः बारहवें गुणस्थान के अन्त में समग्र ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो चुकता है अतः उसके आगे भावमन का व्यवहार नहीं होता। फलस्वरूप मनोयोग का वास्तविक सद्भाव बारहवें गुणस्थान तक ही होता है, हां द्रव्य मन की रचना तेरहवें

गुणस्थान में भी बनी रहती है और उसके पोषण के लिये मनो-वर्गणा के परमाणुओं का आगमन भी होता रहता है इसलिये उपचार से तेरहवें गुणस्थान से भी उसका अस्तित्व होता है। तेरहवें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्तकम एक कोटी वर्ष पूर्व प्रमाण है। इस दीर्घ समय में भगवान् का विहार तथा दिव्यध्वनि आदि के लोकोपयोगी कार्य होते रहते है। इस दीर्घकाल में इनके ध्यान नही होता। वचनयोग और काययोग के द्वारा लोक कल्याण ही मे इनकी प्रवृत्ति होती है परन्तु जब अन्तर्मुहूर्त की आयु शेष रहती है तब वचनयोग नष्ट हो जाता है, दिव्यध्वनि आदि क्रियायें बंद हो जाती है। उस समय यदि आयुकर्म की स्थिति अल्प और अवशिष्ट तीन अघातिया कर्मो की स्थिति अधिक होती हो तो समीकरण करने के लिये उनके आत्मप्रदेशों में दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण रूप अवस्था होती है। इस अवस्था में चार समय लगते है। पहले समय में आत्मा के प्रदेश नीचे से लेकर लोकान्त तक दण्ड के आकार लम्बे हो जाते है। दूसरे समय में कपाट के आकार चौड़े हो जाते है तीसरे समय में वातवलय को छोड़कर समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते हैं इसे प्रतर कहत हैं और चौथे समय में वातवलयों में भी व्याप्त हो जाते है इसे लोकपूर्ण कहते हैं। इस क्रिया से अवशिष्ट अघातिया कर्मों की स्थिति घट कर आयु के बराबर हो जाती है। फिर क्रम से चार समयों में आत्मप्रदेशों को संकोचित कर चौथे समय में पूर्वदेह प्रमाण हो जाते हैं। इस समय इनके मात्र काययोग रह जाता है वह

भी अत्यन्त सूक्ष्म । इसी समय सयोगकेवली जिनेन्द्र सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती नामका तृतीय शुक्लध्यान प्रकट करते हैं और पूर्व की अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा करने लगते हैं। सयोगकेवली जिनेन्द्र के जो समुद्घात होता है वह इच्छापूर्वक नहीं होता क्योंकि इच्छा का कारण मोहोदय है जोकि दशम गुणस्थान तक ही रहता है। यह सब प्रवृत्ति स्वयमेव हो जाती है और सब केवलियों को करनी पड़ती हो सो भी नहीं। जिनके अघाति-चतुष्क की स्थिति विषम होती है उन्हीं के यह क्रिया होती है ॥३२॥

विगलन्निखिलशरीरवचनमनोयोगोच्छ्वासनिःश्वाससंसरणहरण-सकलप्रदेशपरिस्पंदाकरणसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानसम्बन्धोद्भूतसमीकृता-घातिकर्मप्रतानस्वाभाविकदृग्ज्ञप्तिमुकुरप्रतिफलित लोकालोकज्ञेयायोगि-जिनः समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति (निवर्ति) चतुर्थ शुक्लध्यानोपक्रमायो-पक्रमत इत्युपदर्शयन्तः सत्येत्याद्यनुशासति सूरयः—

सत्यात्मन्यात्मरूपे विरमति मरुति त्यक्तसङ्गेऽघयोगे,
क्षीणोल्लाघे क्रियौघे समधियति यथाख्यातचारित्रमत्र ।
प्रोन्मुक्ताशेषदोषे भवति कनकवत्प्रान्त शुक्लोपपन्ने,
मोक्षोऽयोगिन्यवश्यं यदविकलविधौ कारणे को बिलम्बः ॥३३॥

भवति । कः ? मोक्षो निखिल कर्माभावः । क्व ? अयोगिनि सर्वज्ञे । कथम् ? अवश्यं नियमेन । कुतः ? यद्यस्मात् । को विलम्बः ? किं विल-म्बनं न किमपीत्यर्थः । क्व ? कारणे हेतौ । किंभूते ? अविकलविधौ परिपूर्णतमे । क्व सति ? भवति । कस्मिन् ? आत्मनि परमात्मनि । किम्भूते ? आत्मरूपे चिदानन्दबोधाद्यनन्तचतुष्टय स्वभावे । मुहुः क्व ? विरमति विनश्यति । कस्मिन् ? मरुति वायौ प्राणापानपवन इत्यर्थः । पुनः क्व ? अघयोगे अघात्यघसम्बन्धिनि । किंभूते ? त्यक्तसङ्गे विश्लिष्टा-

त्मसंश्लेषे । भूयः क्व ? क्रियौघे क्रियासंघाते । किं विशिष्टे ? क्षीणोल्लाघे विनष्ट उल्लाघः सामर्थ्यं (यस्य तस्मिन्) क्रियाकलापपरिष्पन्दशून्य इति-यावत् । पुनः क्व ? समधियति सम्यगधिकं गच्छति । किं ? यथाख्यात-चारित्रं चारित्रमोहस्य निरवशेषस्योपशमक्षयाच्चात्मस्वभावावस्थोपेक्षा-लक्षणं । यथाख्यातचारित्रम् । अथवात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यात-चारित्रात्मसकल कर्म्मक्षय परिसमाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते । क्व ? अत्रा-योगिजिने । किम्भूते ? प्राप्तशुक्लोपपन्ने । अन्त्यव्युपरतक्रियानिवृत्ति (निर्वति) स्वभावसितध्यानाश्रिते । भूयः । किम्भूते ? प्रोन्मुक्ताशेषदोषे प्रकर्षेन्मुक्ता अशेषाः सर्वे दोषा द्रव्यभावकर्माणि । द्रव्यकर्माणि तत्र पुद्गलात्मकानि ज्ञानावरणादीन्यष्टौमूलप्रकृतिविशेषात्तथाष्टचत्वारिंश-दुत्तरशतमुत्तरप्रकृतिभेदात् । भावकर्माणि चैतन्यात्मकानि क्रोधादीनि तत्र त्रिषष्टि द्रव्यकर्मप्रकृतीनां सयोगकेवलिगुणस्थाने क्षयः प्रोक्तोऽन्यासां प्रकृतीनामयोगिगुणस्थाने क्षयोऽभिधीयते । यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृ त्ति-स्तच्छरीर नाम । तत्पञ्चविधमौदारिकवैक्रीयिकाहारकतैजसकार्म्मण-शरीर नाम भेदात् । तदपि पञ्चप्रकारमौदारिकशरीरबन्धननामादिकम् । यदुदयादौदारिकादि शरीराणां । विवररहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वा-पादनं भवति तत्संघातनाम । एतदपि पञ्चविकल्पमौदारिकशरीरसंघात-नामाद्यादेशात् । यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृ त्तिर्भवति तत्संस्थान-नाम षोढा प्रविभज्यते । समचतुरस्रन्यग्रोधवल्मीककुब्जवामनहुण्डसंस्थान-नामनिर्णयात् । देवगति देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वीनामेति । यदुदयादङ्गोपाङ्ग-नामविवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम । तत्त्रिविधमौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरा-ङ्गोपाङ्गनामेति । यस्योदयात्स्पर्शप्रादुर्भावस्तत्स्पर्श नाम । तदष्टविधं कर्कशमृदुगुरुलघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णनाम चेति । यस्योदयादस्थिबन्धन-विशेषोभवति तत्संहनननाम । तत् षड्विधं वज्रर्षभनाराच वज्रनाराच नाराचार्द्धनाराचकीलिकासम्प्राप्तसृपाटिकानामेति पर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्ति नाम । यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रसनाम पञ्चविधं तिक्तकटुककषायाम्ल-

मधुरनामेति । यदुदयप्रभवोगन्धस्तद्गन्धनाम द्विविधं सुरम्यसुरभिनामेति । यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम । तत्पञ्चविधं कृष्णनीललोहितपीतशुक्ल-वर्णनामेति । अपुण्यगुणख्यापनकारणमयशःकीर्तिनाम । यस्योदयादय-स्पिण्डवद्गुरुत्वान्नाधः पतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघु-नाम । यस्योदयात्स्वयंकृतोद्बन्धनमुत्पतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम । यन्निमित्त परशस्त्राभिघातस्तत्परघातनाम । यद्धेतुरुच्छ्वा-सस्तदुच्छ्वासनाम । विहाय आकाशं तत्र गतेर्निवर्तकात्तद्विहायोगतिर्नाम । तद्द्विविधं प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् । तत्र समक्रमः प्रशस्तो देवचारणानां विषमंक्रमोऽशस्तोमनुष्यादीनाम् । स्थिरतावस्थाननिर्व्वर्तकं तत्स्थिरनाम । तद्विपरीतमस्थिरनाम । यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम । तद्विपरीतमशुभ-नाम । एकात्मोपभोगकरणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम । यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्व्वर्तकं तत्सुस्वरनाम । तद्विपरीतं दुःस्वरनाम । असातावेद-नीयम् । यन्निमित्तात्परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणनाम । गोत्रं द्विविधमुच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति । यस्योदयाल्लोकपूजितेषु जन्मकारणं तदुच्चैर्गोत्रं तद्विप-रीतं नीचैर्गोत्रम् । निःप्रभशरीरकारणमनादेयनाम । यदुदयाद्रूपादिगुणो-पेतोऽप्यप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनामेति । अयोगिगुणस्थानोपान्त्यसमये एतः द्वास-प्ततिप्रकृतयः क्षीयन्ते । प्रान्तसमये सातावेदनीयं, मनुष्यायुः, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्व्वी, यदुदयाद्द्वीन्द्रियादिषुत्पत्तिस्तत्त्रसनाम । यदुदयादन्यप्रीति-प्रभवस्तच्छुभनाम, प्रभोपेतशरीरकारणमादेयनाम, यदुदयादाहारादि-पर्याप्तिनिर्व्वत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम, पञ्चाक्षजातिनाम, उच्चैर्गोत्रम्, पुण्यगुण-ख्यापनं यशःकीर्तिनाम, अन्यबाधाकरशरीरकारणं बादरनाम, आर्हन्त्य-कारणं तीर्थंकरत्वनाम । तानि पौद्गलिकद्रव्यकर्माणि तथौपशमिकादि-भव्यात्वानि च भावकर्माण्यपि प्रोन्मुक्तानि येन स प्रोन्मुक्ताशेषस्त-स्मिन्निव । कनक इव यथा सिद्धौषध्युषर्बुधसम्बन्धविध्वस्त बहिरन्तर्म्मल-धातूपलजात्यजाम्बूनद इव । ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिर्वर्तिध्यान-मारभते । समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारः सर्व्वकायवाङ्मनोयोगः

सर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात्समुच्छिन्नक्रियानिर्वर्त्तिध्याने सर्वबन्धास्त्रवनिरोधशेषकर्मशातनसामर्थोपपत्तेरयोगिकेवलिनः सम्पूर्णं यथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनसंसारदुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणं समुपजायते स पुनरयोगकेवली भगवांस्तदाध्यानातिशयधनंजयनिर्द्दग्ध सकलमलकलङ्कबन्धनो निरस्तकिट्टकनकपाषाणकनकवल्लब्धात्मस्वभावः परिनिर्व्वातीति प्रतिपादितवृत्ततात्पर्यार्थः ॥३३॥

आगे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती नामक चतुर्थ शुक्लध्यान का वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

'जब आत्मा परमात्मस्वरूप हो जाता है, श्वासोच्छ्वास नामक प्राणवायु का अवरोध हो जाता है, अघातिया कर्मों का सम्बन्ध छूटना ही चाहता है, समस्त प्रकार की क्रियाओं का समूह क्षीण हो जाता है, यथाख्यातचारित्र पूर्णता को प्राप्त हो जाता है, अन्तरंग-बहिरंग सभी दोष नष्ट हो जाते हैं, और अन्तिम शुक्लध्यान को पाकर आत्मा जहां सुवर्ण के समान निर्मल हो जाता है उस अयोग-केवली का अवश्य ही मोक्ष होता है सो ठीक ही है क्योंकि कारण की पूर्णता में विलम्ब कैसे हो सकता है।'

विशेषार्थ—तृतीय शुक्लध्यान के समय काययोग द्वारा आत्म-प्रदेशों में सूक्ष्म परिष्पन्द होता था परन्तु चौदहवे गुणस्थान में पहुंचते ही वह सूक्ष्म परिष्पन्द भी बन्द हो जाता है। आत्मा की ज्ञानानन्दघन अवस्था प्रकट हो जाती है, अतः आत्मा परमात्मा बन जाता है। श्वासोच्छ्वास का संचार रुक जाता है, अघातिया कर्मों की ८५ प्रकृतियों का अस्तित्व तेरहवें गुणस्थान में था परन्तु चौदहवें में गुणस्थान में प्रवेश करते ही

उनका संबन्ध आत्मा से छूटने लगता है । जो भी क्रियाएं अवशिष्ट थीं उन सबका समूह क्षीण हो जाता है । यथाख्यातचारित्र यद्यपि मोहनीयकर्म का क्षय हो जाने से बारहवें गुणस्थान में ही प्राप्त हो गया था; परन्तु प्रदेश प्रकम्पन के रहने से उसमें पूर्णता नहीं आई थी । चौदहवें गुणस्थान में योगनिरोध होने से उसमें पूर्णता आ जाती है । राग-द्वेष-मोह आदि अठारह दोष बिल्कुल ही नष्ट हो जाते हैं । इस समय शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद प्रकट होता है उसके प्रभाव से आत्मा निष्टप्तकनकच्छाय—तपाये हुये स्वर्ण के समान उज्ज्वल हो जाता है और चौदहवें गुणस्थान के उपान्त समय में ७२ तथा अन्त समय में १३ प्रकृतियों का सर्वथा क्षय हो जाता है । जब तक कारण की पूर्णता नहीं होती तब तक कार्य सिद्ध नहीं हो सकता । अयोगकेवली भगवान् के समस्त कारणों की पूर्णता हो जाती है इसलिए लघु अन्तर्मुहूर्त में ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है । इस श्लोक की संस्कृत की टीका में कर्म प्रकृतियों के स्वरूप तथा भेदों का वर्णन किया गया है जो कि सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥३३॥

प्राज्यसाम्राज्यार्यमप्रतापविश्वंविश्वंभरेश्वरतीर्थंकृच्चक्रिमकरकेतनप्रमुखमहापुरुषार्च्चितसमागमासारसंसारसंसरणश्रमशान्तिशरारु ज्ञानशरीरनिरतिशयाक्षयसुखस्वभावलक्ष्मी संलक्षितमोक्षमानिनीवलक्षकटाक्षाक्षेपविक्षेपेक्षण साक्षात्करणक्षमदक्ष हलरूप (?) पूर्व्वानन्तर वृत्ताक्षिप्त यथाख्यातचारित्रव्याख्यानपरं चञ्चच्चारित्रविचारोचितचारुचार्व्वीनिश्चिततत्त्वरुचिचयचितचिदानन्दोदञ्चदुच्चरोमाञ्चोच्छलद्बहिर्निर्गच्छदद्‌भुताविच्छगुलुच्छायाछुपतमिश्रसंघातप्रारब्धध्यानारोपनधन्य -

ध्यानिजनमनस्तामरस विकाशनोष्मरश्मयः सूरयः सर्व्वेत्यादि वृत्त-मधिजगुः—

सर्वासां हि क्रियाणामुपरतिमसमां प्राहुरेतच्चरित्रं,
पात्रं तन्मुख्यवृत्त्या भवति खलु यतोऽयोगिनोऽन्यः परो न।
अस्यार्हत्यभ्युपेतौ स्थितिरिह न भवेन्मुक्तहेतुप्रपञ्च,
उत्कृष्टायाः परोऽस्या अपि जगति यतो नास्ति रत्नत्रयाप्तेः।३४।

प्राहुः कथयन्ति। किम्? चरित्रमाचरणविशेषम्। किंभूतम्? एतत्प्रत्यक्षीभूतम्। काम्? उपरतिं व्यावृत्तिम्। किंभूताम्? असमामतुल्याम्। परमप्रकर्षप्राप्ताम्। कासाम्? क्रियाणाम् व्यापाराणाम्। किंभूतानाम्? सर्वासां पुण्यपापरूपिणीनां शुभाशुभसंरम्भसमारम्भ भविष्णुभवाम्भोधिविवर्त्तस्वभावसुरनरतिर्यग्नारकभूरिभवाविर्भावभाविनीनामित्यर्थः। भवति। किम्? पात्रं परमात्मोत्तमोत्तमपात्रम्। किम् तत्? दर्शनज्ञानचारित्रात्मकात्मोपयोगमात्रम्। कया? मुख्यवृत्त्या प्रधानवृत्त्या। कुतः? यतो न खलु नैवास्ति। कः? अन्यः परः प्रधानपात्रतोपेतः। कस्मात्? अयोगिजिनात्। न भवेत् न स्यात्। का? स्थितिः व्यवस्थितिः स्थानम्। क्व? इहास्मिन् जगति। कस्याम्? अभ्युपेतावभ्युपगमने। कस्यास्य? निखिलोद्गम विगमागम संगमन निबन्धसमग्रव्यापारोपरमरूप-यथाख्यातचारित्रस्य। कस्मिन्? अर्हति सयोगिजिने। कुतः? यतो नाप्यस्ति नैव विद्यते। कः? परोऽन्यः। कः? मुक्तिहेतुप्रपञ्चो मोक्ष-कारण विस्तरः। कस्याः? रत्नत्रयप्राप्तेः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्राप्तेः। ननु यदि रत्नत्रयप्राप्तेर्मुक्तिहेतुतननं संतन्यते तदा व्यवहाररत्नत्रयादपि स्यात्। तथाहि सर्वज्ञातीन्द्रियज्ञाननिर्णीतजीवादिसप्ततत्वाभिरोचनं सम्यग्दर्शनम्। पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यनवपदार्थाद्यवगमस्वभावं सम्यग्ज्ञानम्। सकलपापक्रियोपरमरूपं सम्यक्चारित्रमिति। न चैतस्मान्मोक्षावाप्तिरहमिन्द्रादिपदप्राप्तेरेवातः प्रतिसिद्धेरित्याह-उत्कृष्टायाः परमार्थस्वभावायाः।

किम् ? इदं परमार्थस्वरूपत्वम् रत्नत्रयाप्तेरिति निरूप्यन्ते। तत्रानल्प-संकल्पकल्पान्तानिलोच्छलितानच्छातुच्छसद्भूतनित्यत्वानित्यत्वक्रमाक्रमसुखदुःखादिपर्यायरङ्गच्चङ्गत्तुङ्गतरङ्गाभोगोद्भूर्णतरङ्गिणीपतेरिवचैतन्यरत्नाकरस्यासन्नयोपकल्पितविकल्पयुगान्तमारुतोपरतनिस्तरङ्गस्वाभाविकपरिणामापन्नपाथोनिधिरिव कर्माकीर्णनिकिम्मीराकारकषण भूतार्थशुद्धद्रव्यार्थिकनयनिर्णीतव्यापकपूर्णघनैकज्ञाननियतस्यात्मनो दर्शनं सम्यग्दर्शनं, ज्ञानानन्दानन्तवीर्यदृगात्मनो ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं, सकलसत्क्रियासत्क्रियोपरम शुद्धानन्तबोधाद्यात्मपरमात्मनि चरणं सम्यक्चारित्रमित्येतस्याः परमप्रकर्षप्राप्ताया रत्नत्रयप्राप्तेः सिद्धिसौधाधिरोहणं भवत्येवेत्यर्थः। सर्वक्रियोपरम रूपं चारित्रमुच्चरंते सच्चरित्रचेतसः सच्चरित्रचारिणो ऽयोगिजिनस्यैव सत्पात्रव्यवस्थितेः। नचाखिलक्रियाकलापवैकल्यकलितं चारित्रं जिनेऽस्ति तदनन्तरमेवापवर्गसङ्गान्तरविकलकारणत्वात्। यद्यत्राविकलकारणं तत्तत्र भवत्येव यथा मृद्दण्डचक्रचीवरकुलालकरव्यापाराविकलकारणकः कुटः। अविकलकारणं च रत्नत्रयं मोक्षस्येति सिद्धिर्जिनस्य मोक्षाश्रयत्वसिद्धेर्जिनहीनं जगदापनीपद्येत। नचोत्कृष्टरत्नत्रयं विनान्यकारणं जैनराद्धान्ते सिद्धिनिबन्धनमस्तीति निर्णीतवृत्ततात्पर्यार्थः॥ ३४॥

आगे मोक्षप्राप्ति का असाधारण कारण जो परमयथाख्यात चारित्र है वह अयोगकेवली के ही होता है ऐसा निरूपण करते हैं—

'समस्त क्रियाओं का अतुल्य—परम प्रकर्ष को प्राप्त होने वाला जो उपरम है यही चारित्र कहलाता है। मुख्यरूप से यह चारित्र अयोगकेवली के ही होना है क्योंकि उनसे उत्कृष्ट दूसरा व्यक्ति इस संसार में नहीं है। यदि सयोगकेवली के इसकी प्राप्ति मानी जावे तो वे फिर इस संसार में न रहें; क्योंकि इस

सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रय की प्राप्ति से बढ़कर और कुछ मुक्ति का कारण नहीं है।'

विशेषार्थ—आगम में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की पूर्णता को मोक्ष का मार्ग कहा है। इन तीनों की पूर्णता हुई नहीं कि मोक्ष प्राप्त हो गया। क्षायिक सम्यग्दर्शन अपने आपमें पूर्ण सम्यग्दर्शन कहलाता है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में उसकी पूर्ति हो जाती है। चारित्र-मोहनीय कर्म का उदय चारित्र गुण का आवरण करता है। क्षपक श्रेणीवाला जीव दशम गुणस्थान के अन्त में उसका क्षय कर चुकता है। बारहवे गुणस्थान से क्षायिक यथाख्यात चारित्र प्रकट हो जाता है और बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण आदि तीन घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है जिससे तेरहवें गुणस्थान में लोकालोकावभासी केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की पूर्णता हो जाती है। फिर क्या कारण है कि देशोनकोटिवर्ष पूर्व तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है? यह एक प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका उत्तर ग्रथकर्ता ने इस श्लोक में दिया है कि वास्तव में चारित्र क्या है और कहां होता है? उन्होंने समस्त क्रियाओं का यहां तक कि आत्मप्रदेश परिष्पन्दों का भी सवर्था अभाव हो जाना ही चारित्र माना है और ऐसा चारित्र मुख्य रूप से अयोग-केवलि जिन के ही होता है। सयोग-केवलि जिन के योग सद्भाव के कारण आत्मप्रदेश परिष्पन्द रूप क्रिया

विद्यमान रहती है अतः पूर्वोक्त चारित्रगुण संभव नहीं है। यदि सयोग-केवलि-जिनके इस चारित्र की प्राप्ति हो जावे तो रत्नत्रय की पूर्णता हो जाने के कारण वे संसार में अवस्थित नहीं रह सकते। रत्नत्रय की पूर्णता मोक्ष-प्राप्ति का असाधारण कारण है ॥३४॥

तत्त्वामूलोन्मूलिताखिलकर्म्मानोकहकक्षाणां सिद्धपरमेष्ठिनां संसारिणां संसरणं कर्मकदम्बकाभावादूर्ध्वगमनं न प्राप्तोत्यधस्तिर्यग्गमनाभावात्। तथाहि सिद्धानामूर्ध्वगमन नास्ति गमनागमननिबन्धनकर्म्मकारणोपलम्भाभावात् अधस्तिर्यग्गमनाभाववदिति विवदमानं दुर्व्वादिनं निर्व्विवादमुद्रया मुद्रयन्तो यथावत्तत्स्वभाववेदिनः सूरय ऊर्ध्वमित्यादि वंध्वनन्ति—

ऊर्ध्वव्रज्यात्मकत्वादयमनिलशिखावत्ततः प्रोर्ध्वमीर्त्ते,
नो याने चायमास्ते जगति हि गगने यन्न धर्मास्तिकायः।
प्रत्यावृत्तिर्न मोक्षादवमविगमनान्नैव जीवैर्विहीनः,
संसारोऽनन्तभावान्न च जननविधिस्तेष्वपूर्वैष्वहेतोः ॥३५॥

सकल कर्म विप्रमोक्षानन्तरम् ईर्त्ते गच्छति। कः? अयमयोगिजिनः। किं कर्म्मतापन्नम्? प्रोर्द्धमूर्ध्वाशासमाश्रित शिवसदनम्। कस्मात्? ऊर्ध्वव्रज्यात्मकत्वादूर्ध्वगमनस्वभावत्वात्। नन्वप्रतिपादितकरणकमिदमूर्ध्वगतित्वं कथं निर्णेतुं पार्यते? अत्राभिधीयते, पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च। प्रभूतोऽपि दृष्टान्तः समर्थनमन्तरेणाभिप्रेतप्रयोजनसाधनाय न समर्थ इत्युच्यते—आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपोपलेपतुम्बकवद्वातारिबीजवदसमकरशिखाजालवच्च पूर्वोक्तानां हेतूनां दृष्टान्तानां च यथासंख्यं संबन्धो भवति। तद्यथा कुम्भकारप्रयोगापादितकरदण्डचक्रसंयोगपूर्वकं भ्रमणमुपरतेऽपि तत्पूर्व्वपूर्व्वप्रयोगादासंस्कारक्षयाद्भ्रमणमेवं भवस्थेनात्मनापवर्गप्राप्तये बहुशो यत्प्रणिधानं (कृतं) तदभावेऽपि तदावेशपूर्वकं मुक्तस्य गमनमवसीयते। किञ्चासङ्गत्वात्, यथा

मृत्तिकालेपजनितगौरवमलाबुद्रव्यं जलेऽधः पतितं जलार्द्रीभावविश्लिष्ट-मृत्तिकाबन्धनं लघु सदूर्ध्वमेव गच्छति तथा कर्म्मभाराक्रान्तवशीकृतात्मा तदावेशवशात्संसारे नियमेन गच्छति तत्सम्बन्ध प्रमुक्तौ तूपर्येव याति। किञ्च, बन्धच्छेदात्। यथा—बन्धच्छेदादेरण्डबीजस्य गतिर्दृष्टा तथा मनुष्यादिभवप्रापकगतिजातिनामादिसकलकर्मबन्धच्छेदान्मुक्तस्योर्ध्वगतिरव सीयते। किञ्च, तथागतिपरिणामात्। यथा तिर्यक्प्लवनस्वभाव समीरणसम्बन्धोपहतकीलाकलापोऽपि बह्निः स्वभावादूर्ध्वमुत्पतति तथा मुक्तात्मापि नानागतिविकारकारणकर्मनिवारणे सति उर्ध्वं (गमन) स्वभावत्वादूर्ध्वमेवारोहतीति। यदि मुक्त ऊर्ध्वगतिस्वभावो लोकान्ता दूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पततीत्यत्रोच्यते। नो आस्ते न तिष्ठति। कस्मिन्? याने गमने। क्व? गगने व्योम्नि। किंभूते? जगति लोकबहिर्भूते। कुतो? यद् यस्मात्। न कः? धर्मास्तिकायो गत्युपग्रहकारको धर्मास्ति-कायो नोपर्यस्तीत्यलोकाकाशे गमनाभावः। तत्र धर्मद्रव्यसद्भावे वा लोका-लोकविभागाभावो बोभूयेत। ननु यद्यपि लोकान्तगगने न गच्छति तर्हि ततो व्यावर्त्तत इति चेत्? न भवति। का? प्रत्यावृत्तिः? कस्मान्मोक्षात्। कुतो? अवमविगमनात् कर्माभावात्। नन्वनाद्यन्तकालेनोत्कृष्टरत्न-त्रयसंगतेः प्रतिसमयं जन्तुजातस्य मोक्षस्थान प्राप्तेर्जीवहीनं जगज्जंजन्यत इति चेत्? नैव न च स्यात्। कः? संसारो भवः। किंभूतो विहीनो रहितः। कैः? जीवैः सत्त्वैः। कुतः? अनन्तभावात् मुक्तानन्तराशेः सर्वात्मराशेरनन्तगुणत्वादिति। तदुक्तं परमागमे, "[1]एकनिगोतशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतोदृष्टाः। सिद्धैरनन्तगुणिताः सर्वेणाप्यतीतकालेन'॥ इति। यथा कौमुदीकान्तकरस्पर्शाद् द्रवन्नपि चन्द्रकान्तमणिर्न हीयते, यथा चुलुकैश्चुलुप्यमानस्य जलधेर्जलततिर्न त्रुटति, यथा कर्पूरपारीवहल परिमलपूरोऽपि नचापचीयते तथा नित्यनिगोतादि संसार्यात्मराशिरपि न

१. एक णिगोदशरीरे जीवा दव्वपमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥ गो. जी. का.

हीनतां व्रजतीत्यर्थः । नन्वनन्तभावान्नप्राणिगणाकीर्णत्वं त्रिभुवनस्य संतन्यतेऽपित्वपूर्वप्राण्युत्पत्तेरितिचेत् ? न च नैव युक्तं उपपन्नः । कः ? जननविधिरुत्पादककारणकलापः । केषु ? तेषु जीवेषु । किंभूतेषु ? अपूर्वेषु नूतनेषु । कुतः ? सदकारणकत्वाज्जन्तूनाम् । तथाहि यत्सदकारणकं तदनाद्यनिबन्धनं यथा वनपवनावनिवैश्वानराः सदकारणकं-च हर्षामर्षोत्कर्ष भीतिविस्मयस्मयकरुणाकरणहरणातङ्कशोकौदासीन्य दौर्जन्यादिपर्यायात्मकं जन्म विनाशान्तं चित्स्वभावात्मकं तच्चान्तनमिति । अथ भूतानि चैतन्योत्पादककारणान्यकारणकत्वासिद्धे विशेषणासिद्धो हेतु रिति चेत् ? नाचित्स्वभावेभ्यो भूतेभ्यश्चिल्लक्षणं तत्त्वान्तरं विरोधात् । ननु विजातीयोत्पत्तिर्दरीदृश्यते यथादरदात्पारदीयं जलान्मुक्ताफलं काष्ठादनल इत्यादिस्तथा विजातीयेभ्योऽपि भूतेभ्यो विजातीयचैतन्योत्पत्तिरितिचेन्न । तत्र पुद्गलत्वेन सजातीयत्वसंभवात् सर्वथा विजातीयत्वासिद्धेः । भूतचैतन्ययोस्तु सजातीयत्वे प्रत्यक्षविरोधावित्यादितर्कशास्त्रादवगन्तव्यमित्युपरम्यते । प्रधानाप्रधानकर्मप्रकृतिपाशविध्वंसनादूर्ध्वमेव व्रजति सिद्धपरमेष्ठी ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वाज्ज्वलनज्वालाजालवत् । न च व्रजन्नेवास्ते लोकविकलाकाशे गतिहेतुधर्म्मास्तिकायवैकल्याद् व्यावर्तननिबन्धन कर्म्मबन्धुबैधुर्याद्भुवनान्तसिद्धिसौधान्नाधः पतति सर्वात्मनां मोक्षमन्दिरोदरान्तर्गतत्वेऽप्यमुक्तात्मनां ततोऽनन्तगुणत्वान्न संसारिशून्यं त्रिविष्टपं नचाभिनवजन्तुसन्तत्युत्पत्तिनिबन्धनमुपादानसहकारिकारणं वा संपश्यामहे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधादितिनिर्णीतवृत्तसमुदायार्थः ॥३५॥

आगे यह जीव स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता है ऐसा निरूपण करते हैं—

'समस्त कर्मों का क्षय होने के बाद यह जीव अग्नि शिखा के समान ऊर्ध्व गमन स्वभाव होने से ऊर्ध्व गमन करता है—एक समय में तनुवातवलय के अन्त तक पहुंच जाता है। उसके आगे आकाश में गमन इसलिये नहीं करता है कि वहां धर्मास्ति-

काय नहीं है। मोक्ष स्थान से लौटकर यह जीव वापिस नहीं आता, क्योंकि उसके संसारोत्पत्ति में कारणभूत कर्मों का अभाव हो चुकता है। इस संसार में अनन्त जीव हैं इसलिये यह कभी भी जीवों से रिक्त नहीं होता है। नवीन जीवों की उत्पत्ति इसलिये नहीं होती कि उसका कोई कारण नहीं है—सदकारणवान् होने से जीव अनादि निधन है'।

विशेषार्थ—चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में ज्योंही समस्त कर्म प्रकृतियों का क्षय होता है त्योंही यह आत्मा ऊर्ध्व-गमन स्वभाव होने से ऊपर की ओर गमन करता है और लोक के अन्त तक एक समय में पहुंच जाता है। लोक के अन्त में तनुवातवलय है जिसका विस्तार १५७५ धनुष है। इसका अन्तिम ५२५ धनुष प्रमाण क्षेत्र सिद्ध क्षेत्र कहलाता है। समस्त सिद्धात्माओं के शिर तनुवातवलय के अन्तिम पटल से छुए हुए रहते हैं। नीचे जिनकी जितनी अवगाहना रहती है उतनी दूर उनके आत्म-प्रदेश अवस्थित रहते हैं। मोक्ष हो जानेवाले जीवों के शरीर का प्रमाण कम से कम साढ़े तीन हाथ और अधिक से अधिक पांच सौ पच्चीस धनुष का होता है। जिस प्रकार अग्नि-शिखा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है उसी प्रकार जीव का स्व-भाव भी ऊर्ध्वगमन है। संसारी अवस्था में कर्मों से आवृत रहने के कारण जीव का यह स्वभाव आवृत रहता है परन्तु मुक्त अवस्था में कर्म का आवरण दूर होते ही वह प्रकट हो जाता है। तत्वार्थ सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य ने इस विषय में अग्निशिखा के साथ आविद्धकुलालचक्र, व्यपगतलेपालांबु और एरण्ड

बीज का भी उदाहरण दिया है। संस्कृत-टीकाकार ने भी उनका निरूपण किया है।

प्रश्न—जब कि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है और तनुवात वलय के आगे अनन्त आकाश खुला पड़ा है तब यह मुक्त जीव तनुवात वलय के आगे क्यों नहीं जाता ?

उत्तर—मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव अवश्य प्रकट हुआ है परन्तु वह धर्मास्तिकाय की सहकारिता पाकर ही अपना कार्य कर सकता है। तनुवातवलय के आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है अतः मुक्त जीव उसके आगे नही जाते।

प्रश्न—यदि तनुवातवलय के आगे धर्मास्तिकाय का सद्भाव मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—लोक और अलोक का विभाग समाप्त हो जावेगा।

प्रश्न—माना कि मुक्तजीव धर्मास्तिकाय की सहकारिता न मिलने से लोकान्त के आगे नहीं जाते परन्तु वापिस नीचे आने में तो यह प्रतिबन्ध नहीं है। लोक में धर्मास्तिकाय विद्यमान है ही ? फिर वापिस क्यों नहीं चले आते ?

उत्तर—यह ऊपर लिख आये हैं कि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है संसारी अवस्था में वह कर्मोदय से तिरोहित रहता था। अब मोक्ष हो जाने पर कर्म का सम्बन्ध छूट जाने से प्रकट हुआ है अतः नीचे की ओर वापिस आने में कोई कारण नहीं है।

प्रश्न—अनन्तकाल से जीव मोक्ष जा रहे हैं और अनन्त काल तक चले जावेंगे। छह माह आठ समय में कम से कम छह सौ आठ जीव तो मोक्ष जाते ही हैं फिर कभी यह संसार

जीवों—भव्य प्राणियों से–खाली नहीं हो जायगा ?

उत्तर—नहीं, अब तक अनन्त जीव मोक्ष जा चुके हैं फिर भी संसार में जो जीव राशि अवस्थित है वह मुक्त जीवों की राशि से अनन्त गुणी है। परमागम में लिखा है कि एक निगोद जीव के शरीर में सिद्धों से तथा समस्त भूतकाल से अनन्त गुणित जीव अवस्थित हैं। उदाहरण से भी यह बात सिद्ध है कि जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों का सम्बन्ध पाकर चन्द्र-कान्त मणि से पानी झरता है परन्तु इससे चन्द्रकान्तमणि कभी समाप्त नहीं होता। अथवा जिस प्रकार समुद्र को चुल्लुओं से उलीचा जावे फिर भी उसका जल समाप्त नहीं होता अथवा जिस प्रकार कपूर के पिण्ड से निकलने वाली सुगन्धि कभी समाप्त नहीं होती उसी प्रकार अनन्तनिगोद राशि कभी समाप्त नहीं होती। अथवा जिस सर्वज्ञ के ज्ञान में यह बात आई है कि अनन्त जीव मोक्ष जा चुके है, उसी सर्वज्ञ के ज्ञान में यह बात भी आई कि यह संसार कभी भी जीवों से रिक्त नही होगा। विरोध तब मालूम होता है जब लोग एक बात को सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय मानते है और दूसरी बात को अपने तुच्छ श्रुतज्ञान का विषय बनाना चाहते हैं।

प्रश्न—यह संसार अनन्त होने के कारण प्राणियों के समूह से नहीं भरा है किन्तु नये-नये जीव उत्पन्न होते जाते हैं इसलिए प्राणि-समूह से भरा है ?

उत्तर—यह ठीक नहीं है; क्योंकि नवीन जीवो की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। संसार के समस्त द्रव्य सदकारणवान्

होने से अनादि निधन हैं। कोई भी द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। उत्पाद और विनाश पर्यायों पर ही अवलम्बित है। जीव-द्रव्य की एक पर्याय नष्ट होकर दूसरी पर्याय उत्पन्न हो सकती है परन्तु जीव-द्रव्य नष्ट नहीं होता और न उत्पन्न ही होता है।

प्रश्न—नवीन जीवों की उत्पत्ति का कारण क्यों नहीं है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार महाभूतों के संसर्ग से नित्यप्रति नये-नये जीव उत्पन्न होते रहते हैं ?

उत्तर—यह बात असंगत है। विजातीय द्रव्य से विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती। भूतचतुष्टय जड़ है और जीव चैतन्य का पुञ्ज है। जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति सर्वथा असंभव है।

प्रश्न—हम नित्यप्रति प्रत्यक्ष देखते हैं ?

उत्तर—प्रत्यक्ष क्या देखते हो ? जीव का शरीर ही तो देखते हो। जीव जो चैतन्य का पुञ्ज है, अनन्त आनन्द का आयतन है वह तो आपको नहीं दिखता। जो दिखता है वह शरीर है, जड़ है, फिर जड़ से जड़ की उत्पत्ति हो गई इसमे आश्चर्य क्या हुआ ? इस जड़ शरीर के भीतर रहने वाला तत्व किसी से उत्पन्न नहीं होता और न किसी से नष्ट होता है ॥३५॥

पूर्वापरकोटि विघटितस्पष्टटङ्कोत्कीर्णान्योन्यासंश्लिष्टप्रतिक्षणं विशरारुकार्यकारणभावप्रबन्धानुबन्ध्यपरामृष्टभेद-मध्यक्षणमात्रावलम्बिस्वलक्षणलक्षितबहिरन्तःपुद्गलज्ञानपरमाणुरूपतत्वावबोधविधुरबौद्धपुरबोधाह्वय -

ध्वांतान्धीकृतयथार्थदृष्टयो बौद्धा नैरात्म्यानुध्यानध्वस्तसकलसमुदायदुःखा-विष्टस्य मुमुक्षोः प्रदीपनिर्वाणलक्षणो मोक्षो भवतीति यथा प्रदीप ऊर्ध्वाधः प्राच्यामपाच्यां विदिशि च न गच्छति केवलं तैलवशानाशाच्छान्तिमुपया-त्यभावाभिधानं तथात्मापि क्लेशनाशाच्छून्यस्वभावां शान्तिं याति निरा-कारत्वाच्च मुक्तस्याभाव इति प्रत्यवतिष्ठमानास्तत्वप्रतिष्ठापटिष्ठा निष्ठुरं चानुप्रतिक्षिपन्तः श्रुतज्ञानसाक्षात्कृतमोक्षाक्षूणलक्षणाः प्रेक्षादक्षाश्चालो-कान्तादित्याद्याचक्षते सूरयः—

आलोकान्तात्समीरात्समतति समयेनायमेकेन मुक्ता—
वस्योत्कर्षाद्विशुद्धेर्घन विवरतया किञ्चिदूनाकृतिः स्तः।
एनःसंवृद्धिबन्धव्युपरमकरणाद् ध्यानमेतच्च मुक्त—
माद्ये द्वे तत्र पूर्वश्रुतिनि जिनपतावुत्तरे द्वे च शुक्ले ॥३६॥

समतति संगच्छति। कः? अयं कर्मोन्मुक्तः। आ कुतः? समीरा-च्चरण्योः। किं भूतात्? आलोकान्तात् लोकान्तव्यवस्थितात्। अत्राङ्-अभिविधौ दृष्टव्यस्ततोऽमयर्थः संपद्यते। लोकान्ततनुवातमारुते स्थित इत्यर्थः। केन? समयेन समय मात्रावस्थितेन। किं भूतेन? एकेनेकसं-ख्येन। कस्याम्? मुक्तौ सिद्धसद्मनि। नन्वनाकारत्वादभाव इत्युक्तं तदयुक्तं यद्यपि रूपाद्यात्मिका न तत्राकृतिस्तथापि भवति। का? आकृतिः प्रति-कृतिः प्रतिबिम्बम्। किं भूता? किञ्चिदूनाकियन्मात्रेण। कया? घनवि-वरतया घना निविडा विवराश्छिद्रास्तेषां भावस्तत्ता तया मदनहीनभूषा-गर्भवदतीतानन्तरतन्वाकारजीवघनैकरूपत्वान्निखिलसुषिरप्रदेशानामित्यर्थः। कस्य? अस्यायोगिजिनस्य। कस्मात्? उत्कर्षात् प्रकर्षात्। कस्याः? विशुद्धेः सकलमलकलङ्कनिर्मुक्तेः। स्यादाकूतं यदि कायाकारानुकारी जीवस्तदभावात्स्वाभाविकलोकाकाशप्रमाणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोति। नैष दोषः। कुतः? कारणाभावात्। नामकर्मोदयो हि संहरणविसर्पण-कारणं तदभावात्पुनः संहरणविसर्पणाभावः। नन्वयोगिजिने न किञ्चि-द्ध्यानमस्तीति चेत्? न। विद्यते। किम्? ध्यानम्। किं भूतम्? एत-

त्प्रत्यक्षीभूतम् । किमभिधानम् ? मुक्तम् । कुतः ? एनः संवृद्धिबन्धव्युप-रमकरणाद् एनः पापं तस्य संवृद्धिर्वर्धनं तस्य बन्धः संश्लेषस्तस्य व्युपरमो विनाशस्तस्य करणं विधानं तस्मात् । कुत एतत् ? यतः स्तः । के ? द्वे शुक्लध्याने । किं भूते ? पूर्वे आद्ये । क्व ? तत्र पूर्वश्रुतिनि परिप्राप्त-समग्रश्रुतज्ञान इत्यर्थः । भवतः । कस्मिन् ? जिनपतावर्हति के ? द्वे च द्वे एव शुक्ले । किंभूते ? उत्तरे पश्चात्प्रतिपादिते । नामूर्त्तत्वात्प्रदीपभा-वाभावान्मुक्तस्य मुक्तिर्भणनीया । कुतः ? विशुद्धिपरमकाष्ठानिष्ठत्वात् । समयेनैकेनचरमपुरप्रतिमानस्य किंचिदूननीरन्ध्रात्मघनस्यालोकान्तानिला-न्तव्यवस्थितेः । न च तत्रध्यानं नास्तीत्यभिधानीमघात्यघसंघातघातित्वेन मुक्तेः प्रान्त्य शुक्लध्यानसद्भावात् । नचेदमनागमिकमित्यभिधातव्यमेका-श्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे इति तत्त्वार्थेऽभिहितत्वात् । उत्तरे च शुक्लध्याने केवलिन्येवेति विदितार्थप्रवृत्तसंघातार्थः ॥३६॥

आगे मुक्तावस्था में आत्मा का उच्छेद हो जाता है, बौद्धों के इस मुक्तिवाद का निराकरण करते है—

'विशुद्धि की उत्कर्षता से मुक्ति प्राप्त होने पर यह जीव एक ही समय में लोकान्त में स्थित तनुवातवलय तक पहुंच जाता है। वहां घनविवर रूप होने के कारण इसका आकार चरम शरीर से कुछ न्यून हो जाता है। पाप-वृद्धि में कारणभूत कर्मबन्ध का अभाव होने से अयोगि-जिनेन्द्र के ध्यान का सद्भाव है। आगम में यह ठीक ही कहा है कि आदि के दो शुक्लध्यान पूर्व-श्रुतज्ञानी—श्रुतकेवली के होते हैं **और** अन्त के दो शुक्लध्यान जिनेन्द्रदेव के होते है'।

विशेषार्थ—बौद्धों ने माना है कि जिस प्रकार तेल समाप्त होने पर जब दीपक बुझता है। तब वह न किसी दिशा को जाता है, न विदिशा को जाता है, न पृथ्वी के नीचे जाता है,

न आकाश की ओर जाता है किन्तु तेल समाप्त होने से वहीं नष्ट हो जाता है उसी प्रकार जब यह जीव मुक्त होता है तब ऊपर, नीचे, दिशाओं और विदिशाओं में कही नहीं जाता किन्तु क्लेश का क्षय होने से वही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन आत्मोच्छेद को मुक्ति मानता है परन्तु जैन सिद्धान्त में मुक्ति का यह स्वरूप नहीं माना गया है। समस्त कर्मरूप परद्रव्य का विप्रयोग होने पर आत्मा की जो शुद्ध दशा प्रकट होती है वही जैन सिद्धात–संमत मुक्ति का स्वरूप है। मुक्ति में आत्मा का उच्छेद नही होता किन्तु पर-पदार्थ के सम्बन्ध से आत्मा में जो विकार उत्पन्न हुआ था उसका उच्छेद होता है। जब आत्मा से पर-पदार्थ का सम्बन्ध दूर होता है तब आत्मा एक समय में लोकान्त में विद्यमान तनुवातवलय तक पहुंच जाता है। समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक शुक्लध्यान के प्रभाव से आत्मा में जो सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि प्रकट होती है उसी के द्वारा आत्मा का पर-पदार्थ के साथ सम्बन्ध छूटता है। संसारी अवस्था मे शरीर के भीतर आत्मा रहता है। शरीर के भीतर पेट, गाल, नाक कान आदि कितने ही अंगों का निर्माण इस प्रकार का है कि उनके भीतर पोल है—खाली भाग है उसमें आत्मप्रदेश नहीं है परन्तु बाह्य में वह शरीर ही कहलाता है। मुक्ति अवस्था में शरीर के भीतर की पोल मिट जाती है और आत्मा के प्रदेश परस्पर में मिलकर घनरूप हो जाते हैं अतः मुक्त जीव के आत्मप्रदेशों का आकार चरम शरीर के प्रमाण से कुछ कम हो जाता है।

प्रश्न—यदि आत्मा शरीर के आकार का अनुकरण करता है तो मुक्त-अवस्था में शरीर का सम्बन्ध छूट जाने से उसे त्रिलोक मे व्याप्त हो जाना चाहिए ?

उत्तर—आत्म-प्रदेशों के संकोच और विस्तार में शरीर नामकर्म का उदय कारण है और यतः मुक्त-अवस्था में उसका अभाव हो जाता है अतः आत्म-प्रदेशों में शरीर परिमाण से अधिक विस्तार नहीं होता।

प्रश्न—अयोग-केवली गुणस्थान में ध्यान की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—वहां पाप वृद्धि के कारणभूत बन्ध का अभाव होता है अतः ध्यान का सद्भाव मानना आवश्यक है। जब यह जीव सयोगकेवली गुणस्थान से अयोगकेवली गुणस्थान में आता है तब इसके ८५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उनकी निर्जरा ध्यान से ही होती है। सर्वोत्कृष्ट ध्यान इसी गुणस्थान में प्रकट होता है और उसके प्रताप से ८५ प्रकृतियां लघु अन्तर्मुहूर्त में भस्मसात् हो जाती हैं। आगम में जहां शुक्लध्यान के चार भेदों के स्वामी बतलाये हैं वहां पृथक्त्व-वितर्क वीचार और एकत्ववितर्क-विचार ये दो शुक्लध्यान पूर्वधारियों के बतलाये हैं और सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तथा समुच्छिन्नक्रिया निवृत्ति ये दो ध्यान केवली के बतलाये है। सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती सयोगी जिनके और समुच्छिन्नक्रिया निवृत्ति अयोगी जिनके होता है ॥३६॥

ननु बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्म्माधर्मसंस्कारा नव गुणाः संसारिणः संसारिदशायां समुपलभ्यन्ते ते च मुक्त्यभिमतावस्थायां मुक्तात्मनो न सन्तीति। जिगंसात्मप्रदेशपरिस्पन्दाभावान्न गन्तृत्वं निःशेषार्थगमनासंभवाच्चानन्तद्रव्यपर्यायार्थव्यापित्वं सकलकर्माभावकर्तृकत्वाच्चेत्कार्यमुपपन्नम्। तथाहि यत्सकर्तृकं यत्कार्यं यथा कुटः, सकर्तृकं च सिद्धत्वं तस्मात्कार्यम्, तदनित्यं तस्य नित्यत्वविरोधादित्यमुमेवार्थमनुमानमुद्रया द्रढयति। यथाहि यत्कार्यं तदनित्यं यथा घटः, कार्यं चेदं तस्मादनित्यमिति 'भवभावभावभूष्णोर्भव्यजनमनोम्भोजवासित्वं' दुरुपपादमिति वादिनं न्यायवेदिनं नैयायिकं निराकुर्वन्तो निर्णीतानेकान्तवस्तुस्वभावाः सोमदेवास्त्वं गन्तेत्यादि गायन्ति सूरयः—

त्वं गन्ता नो यियासा तव न च गतिमान्स्पन्दमानप्रदेशः
सर्वार्थव्याप्यवृत्तिर्न च सकलगतः कार्यरूपोऽपि नित्यः।
संसारातीतमूर्ति न वससि हृदये कस्य लोकत्रयेऽस्मिन्
नो केषां चित्रमेतद्विभवपदपरोऽप्यर्च्यसे[1] भो मुनीन्द्रैः ॥३७॥

भो भगो सिद्धपरमेष्ठिन्। नो केषां चित्रमपितु सर्वेषां चित्रमाश्चर्यम्। किम्? एतत्प्रत्यक्षीभूतम्। एतत् किम्? त्वं गन्ता गमनशीलः परं न तव यियासा यातुमिच्छेतिचित्रम्। कुतः? जिगंसोरेव गमनोपपत्तेरितिचेन्न गमनेच्छामन्तरेणैव मुक्तात्मनां स्वभावादेव गमनरूपत्वप्रसिद्धेर्वायुवदिति न कश्चिद्विरोधः। अयमपि विरोधः, यः किल गतिमान् भवति स कथमस्पन्दमानप्रदेश इति। स न, गतिमत्त्वेऽपि मुक्तस्य प्रदेशचलनायोगाज्जीवात्मकनिविडपिण्डत्वात्। तथाहि यस्य निविडपिण्डात्मकत्वमसिद्धं निविडपिण्डरूपः सिद्धपरमेष्ठी निर्विवरप्रदेशत्वात्तद्वदेवेति विरोधासिद्धेः। एषोऽपि विरोधो, यो हि सर्वार्थव्यापिवृत्तिः सकलार्थव्यापन स्वभावो न च निखिलगतो नैव सर्वगत इत्यनुमान विरोधश्चेत्तत्रैवमनुमानम्। सिद्धः

१. यन् त०

सर्वगतः सकलार्थव्यापिवृत्तित्वात्, यद्यत्सकलार्थव्यापिवृत्ति तत्सर्वगतं यथाकाशं सर्वार्थव्यापिवृत्तिश्चायं तस्मात्सर्वगत इति स न, ज्ञानरूपेणैव जैनैः सकलार्थव्यापित्वप्रतिज्ञानान्नात्मप्रदेशैः। तदुक्तं परमागमे 'आत्मा[1] ज्ञानप्रमाणो ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम्। ज्ञेयं लोकाकाशं तस्माज्ज्ञानं हि सर्वगतम्'। ज्ञानात्मकत्वेन निखिलार्थं व्यापनेऽपि न मुक्तात्मनः सर्वगतत्वं पूर्वोपात्तान्त्यसंहननप्रतिनियताकारत्वात्। यस्य प्रतिनियताकारत्वं न तस्य सर्वगतत्वं यथा पटस्य प्रतिनियतान्त्यापघनाकृतिश्च मुक्तात्मा तस्मान्न सर्वगत इति विरोधवैधुर्यात्तथात्वमुपपन्नमेवेति। तथेदमप्यतीव विरुद्धमवभासते। कार्यमुत्पाद्यस्तदेव रूपं स्वभावो यस्य स नित्योऽनश्वर इति तन्न, नहि सर्वथा कर्माभावकार्यमेव सिद्धत्वं स्याद्वादिभिः साध्यते। व्यवहारनयार्पणया कथंचिदेव कार्यरूपप्रतिपादनात्। शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया तस्य तैरकार्यवचनापि। सर्वथा नित्यत्वषट्स्थानपतितवृद्धिहान्यात्मकत्वेन परिणामिनित्यत्वाभिधानात्। तथाहि संख्यातभागवृद्ध्यसंख्यातभागवृद्ध्यनन्तभागवृद्धिसंख्यातगुणवृद्ध्यसंख्यातगुणवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिसंख्यात भागहान्यसंख्यातभागहान्यनन्तभागहानिसंख्यातगुणहान्यसंख्यातगुणहान्यनन्तगुणहानिभिः प्रतिक्षणं परिणमनादिति न किञ्चिद्विरुद्धम्। संसारोभवस्तमतीतातिक्रान्ता मूर्तिराकारो यस्य स भवबहिर्भूतमूर्त्तिरपि न कस्य वसस्यपि तु सर्वस्य वससि। क्व? हृदये स्वान्ते। कस्मिन्? लोकत्रय इत्यतिविरुद्धमवधार्यते तन्न संसारातिक्रान्तमूर्तेरप्यभवरूपार्थित्रिभुवन भव्यजनमनोनलिनवासित्वमविरुद्धमेव। तथेदमप्यतीव विरोधास्पदं यतो विभवोभवाभावः पदं स्थानं तत्परस्तन्निष्ठोऽभवपद व्यवस्थितोऽप्यर्च्यसे पूज्यसे, त्वं मुनीन्द्रैर्मुनीश्वरैरितिनेदमपि विरुद्धं संलक्षते। कुतः? यतोऽर्चामपि विरुद्धां संलक्षते। कुतः? यतोऽर्चा सपर्या सा द्विविधा द्रव्यरूपिणी भावस्वभावा च। तत्र भावस्वभावयाऽमलोज्जवलवाक्लतान्तलजा

---

१. आदा णाण पमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥ प्रवचनसारप्रथमाध्याय।

विभवपक्षपरोऽपि सिद्धपरमेष्ठी यतीश्वरैः पूज्यते । व्रजनाभिलाषं विनापि व्रजननियतत्वादेव व्रजनसङ्गतिर्वा बलालब्ध व्यवतिष्ठते परमेष्ठिनस्तथा चलनेऽप्यवयवाचलनं नानुपपन्नं प्रचण्डपुरुषप्रेरितोपलपिण्डवदिति । तथा बोधात्मकतया सर्वार्थव्याप्तावपि न सर्वार्थगत्वमात्मनः संपन्नोपपद्यते । तथा सर्ववृजिनव्रजनजन्यत्वेऽपि न परिणामिनित्योपपत्तिर्विरुद्धा । तथा भवं-भवीभावाकार रहितत्वेऽपि जगज्जन्मप्रमाथिजनमानसाम्बुजवासित्वं व्यव-स्थां प्राश्नुत्येवेति । तथा सिद्धस्थानस्थितत्वेऽपि शिवानां शिवसुखैषिमुनि-नायकवचनोऽभिप्रसुमनःकञ्जामलार्च्चनाघटाकोटिमाटीकत एवेति सम्यगव-धारितार्थवृत्तसंकलितार्थः ॥ ३७ ॥

आगे मुक्तात्तात्मा की विशेषता बताते हुए उनकी स्तुति करते हैं—

'हे भगवन् ! आप गमन करने वाले हैं परन्तु आपके गमन करने की इच्छा नहीं है । आप गतिशील हैं परन्तु आपके आत्म-प्रदेश परिष्पन्दन से रहित हैं, आप समस्त पदार्थों में व्याप्त हैं परन्तु समस्त विश्व में व्यापक नहीं है, आप कार्य रूप होने पर भी नित्य हैं, आपका शरीर संसारातीत है, फिर भी आप इस त्रिभुवन में किसके हृदय में निवास नहीं करते ? सर्वत्र निवास करते हैं, और जन्ममरण रहित पद पर आरूढ़ होकर भी मुनीन्द्रों के द्वारा पूजनीय हैं । उक्त विरोध-सूचक वचन से किसे नहीं आश्चर्य होगा ?

विशेषार्थ—सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध होने के स्थान से लेकर लोकान्त तक एक समय में गमन करते हैं परन्तु उनके गमन करने की इच्छा नहीं है । इच्छा का सद्भाव उनके हो नहीं सकता; क्योंकि इच्छा का कारण चारित्रमोह का उदय

है और उसका दशम गुणस्थान के अन्त में ही अन्त हो चुकता है। यही नहीं, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न संस्कार धर्म अधर्म इन विशेष गुणों का अभाव मुक्त जीव के हो जाता है। ऐसा वैशेषिक दर्शन भी मानता है फिर इच्छा के बिना गमन कैसा? इसका उत्तर यह है कि मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगति स्वभाव है इसलिए वे लोकान्त तक एक समय में पहुँच जाते हैं। वहां पहुँचने के बाद फिर उनका अन्यत्र गमन नहीं होता। सिद्ध भगवान् लोकान्त तक गमन करते हैं परन्तु इस गमन से उनके आत्म-प्रदेशों में परिष्पन्द नहीं होता। परिष्पन्द वहां संभव होता है जहाँ परिष्पन्द के लिए रिक्त स्थान रहता है। सिद्ध होते ही आत्मा के प्रदेश परस्पर में निर्विवर होकर मिल जाते हैं अतः उनमें परिष्पन्द नहीं हो पाता। कितने ही दर्शनकार ऐसा मानते हैं कि आत्मा मुक्तावस्था में सर्वत्र व्यापक हो जाता है, इस मान्यता का आचार्य खण्डन करते हुए कहते हैं कि आत्मा ज्ञान की अपेक्षा सर्वत्र व्यापक है अर्थात् लोक अलोक के पदार्थों को आत्मा जानता है परन्तु प्रदेशों की अपेक्षा अन्तिम शरीर से किञ्चिन्न्यून ही रहता है। यही बात प्रवचन सार में भी श्री कुन्दकुन्द देव ने कही है—"आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय लोकाकाश प्रमाण है अतः ज्ञान सर्वत्र व्याप्त है"[1]। आत्मा की सिद्धावस्था सर्व-कर्म-विप्रयोग रूप कारण से उत्पन्न होती है अतः कार्य है और चूंकि कार्य

---

१. आदा णाण पमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं हि सव्वगयं॥ प्रवचनसार प्रथमाध्याय

है अतः अनित्य होना चाहिए, यह बात नहीं है। वह कार्यरूप होकर भी नित्य है। सिद्ध जीव की जो शुद्ध दशा प्रकट होती है वह अनन्त काल तक नष्ट नहीं होती। यद्यपि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सिद्धावस्था में भी प्रति समय षड्गुणी-हानि-वृद्धि होती रहती है और उसके रहते हुए उसे नित्य नही माना जा सकता परन्तु यहां उस सूक्ष्म परिणमन की विविक्षा नही है। व्यञ्जन स्थूल पर्याय का अभाव होने से उन्हें नित्य कहा गया है। सिद्धात्मा की शरीरात्मक मूर्ति संसारातीत हो चुकी है फिर भी त्रिलोकवर्ती समस्त भव्य प्राणियों के हृदय मे विद्यमान रहती है...यह विरोध है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि उनकी शरीराकृति संसारातीत हो चुकी है; परन्तु त्रिलोकवर्ती समस्त भव्य प्राणी अपने हृदय में सदा उनका स्मरण रखते है। मुक्तात्मा अजन्मा पद को प्राप्त है अर्थात् जन्म से रहित है। फिर भी बड़े-बड़े मुनिराज उनकी पूजा करते हैं...यह भी एक विरोध है और उसका परिहार यह है कि बड़े बड़े मुनिराज निरन्तर उनका गुण स्मरण करते हैं। मुनिराज ही नही तीन लोक के ईश्वर जिनके चरणों की वन्दना करते हैं ऐसे तीर्थकर भी उन सिद्धात्माओं की आराधना करके ही शाश्वती लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सिद्ध भगवान् की विशेषताएँ किनके हृदय में आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती अर्थात् प्रत्येक के हृदय में आश्चर्य उत्पन्न करती हैं ॥३७॥

नन्वौपशमिकादिभावनिवृत्तिवत्सकलक्षायिकभावनिवृत्तावव्यपदेशो मुक्तस्य। कुतः? निःस्वभावत्वात्। यन्निःस्वभावं न तत्केनापि व्यपदिश्यते

यथा तुरङ्गोत्तमाङ्गे शृङ्गम्, निःस्वभावश्च सकलक्षायिकाभावाभावलक्ष
मुक्तस्तस्मान्न सत्त्वादिनापि व्यपदिश्यतइत्यवक्तव्यैकान्ततां परिजिहीर्षवोऽ-
भावस्य च भावान्तरस्वभावतां निर्णीषवः सत्ववस्तुत्वद्रव्यत्वनित्यत्वा-
गुरुलघुत्वसप्रदेशत्वामूर्तत्वचेतनत्वप्रमेयत्वादिधर्माधारस्य सम्यक्त्वाद्य
विशेषगुणगुणिनस्तत्तदभिधायकैः शब्दैस्तदभिधेयतां प्रतिपिपादयिषवः
पण्डितपुण्डरीकषण्डविकाशनभानवः सौख्यमित्याद्युपदिशन्ति सूरयः ।

सौख्यं मोहक्षयेणावृतियुग[1]विगमाद् दृष्टिबोधावपि स्तो,
वीर्यं विघ्नव्ययेनोद्गम विगमहृतिश्चायुरुच्छेदनेन ।
नामोच्छित्तेरमूर्ता [2]स्थितिरुभयकुलासंगमो गोत्रनाशा—
द्वेद्योच्छेदादशेषेन्द्रियजनितसुखातङ्कसंपर्कहानिः ॥ ३८ ॥

भवति । किम् ? सौख्यमनन्तसुखस्वभावत्वम् । केन ? मोहक्षयेण द्विविधमदिराख्यमोहभूरुहगहनमूल हननेन । (स्तो) भवतः । कौ ? दृष्टि-बोधावनन्तदर्शनज्ञाने । कस्मात् ? आवृतियुगविगमात् निखिलपटप्रतीहार-तुल्यदर्शनज्ञानावरणद्वन्द्वोच्छेदात् । किम् । वीर्यमनन्तसामर्थ्यम् । केन ? विघ्नव्ययेन विघ्नमन्तरायस्तस्य व्ययो विनाशस्तेन पञ्चप्रकारभाण्डागा-रिकोपमान्तरायतरुततिपटोत्पाटनोद्भवानन्तशक्तिरित्यर्थः । भवति । का ? उद्गमविगमहृतिः उद्गम उत्पत्तिर्विगमो विनाशस्तयोर्हृतिर्हननम् । केन ? आयुरुच्छेदनेन निगलरूपायुःकर्मविनाशनेत्यर्थः । का ? स्थितिः स्थानम् । किंभूता ? मूर्तिरहिता । कस्याः ? नामोच्छित्तेः । विचित्रचित्रकररूपनाम कर्मोच्छेदनात् । कः ? उभयकुलासङ्गमउच्चनीचकुलद्वयासम्बन्धः । कुतः ? गोत्रनाशात् गुरुलघुकुम्भाविर्भावभाविकुम्भकाराकृतिगोत्रकर्मक्षपणात् । का ? अशेषेन्द्रियजनितसुखातङ्कसंपर्कहानिः । अशेषाणि सर्वाणि च तानि च तानीन्द्रियाणि तैर्जनितमुत्पादितं तच्चतत्सुखञ्च तस्यातङ्कः सद्यःप्राणहरो व्याधिस्तस्य संपर्कः संश्लेषस्तस्य हानिर्हननं सा कस्मात् ? वेद्योच्छेदात्

१. युगगमनाद् त० २. स्थितिसमय त० ।

असमु मधुदिग्धकौक्षेयकधारानुकारिसातासातस्वभाववेदनीयकर्मबन्धविध्वं-सनात्। ननु मोहनीयाविदुष्टकर्म्मारातिनरेन्द्रप्रध्वंसादनन्तसुखस्वभावमु-क्तिकामिनीरत्नालङ्कृतानन्तज्ञानसेनेननियुक्ताप्रतिहतानन्तशक्तिकलितमु-क्तात्मनश्चक्रवर्तित्वं भवतीत्यपयुक्तमभिधीयते यतो हि प्रध्वस्तोऽभवो-ऽभावस्य च भावस्वभावविरोधान्नीरूपत्वात्। यन्नीरूपं तन्न भावस्वभावं यथा गगनकोकनदं नीरूपस्वभावो (ऽभवश्च) तस्मान्नभाव इति चेन्न तुच्छ-स्वभावस्याभावस्य सकलप्रमाणगोचरातिक्रान्तत्वेन गृहीतुमशक्तेः। भावा-न्तरस्वभावस्यैवाभावस्य प्रमाणविषयत्वप्रतिपादनात्। तथाहीहभूतले घटो नास्तीति कोऽयम्? घटविफलभूतलोपलम्भ एवेति भावान्तरस्वभावत्व-मभावस्य सिध्यत्येवेति ज्ञानावरणाद्यभावस्यानन्तज्ञानाद्यात्मकसाम्राज्य-रूपभावान्तरस्वभावता घटामटाट्यते। अनन्तदर्शनादिप्रतिपादकशब्द-कदम्बकेन प्रतिपाद्यत्वोपपत्तेर्न सिद्ध परमेष्ठिनोऽवक्तव्यैकान्तो ज्यायानिति निर्ज्ञातार्थवृत्तसंहृत्यर्थः ॥३८॥

आगे आठ कर्मों के अभाव से सिद्ध परमेष्ठी के आठ गुण प्रकट होते हैं···यह कहते हैं—

'मोहनीय कर्म का क्षय होने से सिद्ध परमात्मा के अनन्त सुख प्रकट हुआ है, दोनों आवरण—ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय से अनन्त-ज्ञान और अनन्त-दर्शन प्रकट हुए हैं, अन्त-राय का क्षय होने से अनन्त-वीर्य प्रकट हुआ है, आयु का उच्छेद हो जाने से जन्म-मरण का अभाव हुआ है, नामकर्म का विनाश होने से अमूर्तावस्था प्रकट हुई है, गोत्रकर्म का नाश होने से उच्च-नीच कुल में अजन्म हुआ है और वेदनीयकर्म का उच्छेद होने से समस्त इन्द्रिय जनित सुख दुःख का सम्बन्ध दूर हुआ है'।

विशेषार्थ—यह जीव अनादि काल से रागादि विभाव रूप परिणमन करता हुआ चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण कर रहा है। आत्मा के रागादि परिणामों का निमित्त पा कर पुद्गल-द्रव्य कर्मरूप परिणत होकर आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं और काल पाकर आत्मा के स्वाभाविक गुणों को विकृत या तिरोहित करने लगते हैं। आत्मा स्वभाव से अनन्त ज्ञान का पुञ्ज है परन्तु संसारावस्था में ज्ञानावरण कर्म का सम्बन्ध हो जाने से उसका वह अनन्त-ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। ज्ञानावरण के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता से संसारी जीव का ज्ञान निरन्तर घटता बढ़ता रहता है। संसारी जीव के कभी अक्षर का अनन्तवां भाग ज्ञान रह जाता है तो कभी बढ़ कर द्वादशांग का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। संसारी प्राणी कभी सामने की वस्तु को नहीं जान पाता, तो कभी असंख्यात लोक की बात को अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष जानने लगता है। सिद्धावस्था प्रकट होते ही यह सब विषमता दूर हो जाती है। ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त क्षय हुआ कि समस्त ज्ञान-सूर्य प्रकाशमान होने लगता है। यही बात दर्शनावरण कर्म की है वह आत्मा के सामान्य प्रतिभास को तिरोहित करता है। संसारी अवस्था में उसका जैसा क्षयोपशम होता है वैसा ही उसका थोड़ा बहुत प्रकाश होता है। चक्षुदर्शन, अचक्षु दर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण न्यूनाधिक रूप से संसारी अवस्था में प्रकट रहते हैं; परन्तु सिद्धावस्था में दर्शनावरण का अत्यन्त क्षय हो जाता है इसलिए

केवलदर्शन गुण प्रकट हो जाता है। यह केवलदर्शन, केवलज्ञान के साथ ही रहता है। मोह के उदय में जीव अपने आप को भूल जाता है। तथा पर को अपना मानने लगता है। दर्शनमोह के उदय से यह जीव स्वरूप को भूल जाता है और चारित्रमोह के उदय से पर को अपना मानने लगता है। इसके उदय में यह जीव पर-पदार्थ के परिणमन को अपनी इच्छानुकूल बदलने की चेष्टा करता है। उस समय वह यह भूल जाता है कि संसार के प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने अगुरु-लघु गुण का निमित्त पाकर अपनी धारा से परिणमन करते हैं। त्रिलोक में किसी पदार्थ के परिणमन की धारा को बदलने की शक्ति किसी में नही है। यदि कदाचित् ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबन्ध मिल गया कि इस जीव के जैसी इच्छा हुई वैसा ही पदार्थ का परिणमन हो गया तो यह हर्षित होने लगता है और इस बात का गर्व करने लगता है कि मैंने यह कार्य कर लिया। परन्तु अधिकांश यही देखा जाता है कि प्राणी की इच्छानुकूल पदार्थों का परिणमन नहीं होता। संसार में सबसे बड़ा दुःख है तो यही है कि इच्छानुकूल पदार्थों का परिणमन नहीं होता। इस प्रकार मोहोदय से यह जीव निरन्तर दुःखी रहता है परन्तु सिद्धावस्था में मोह का सर्वथा क्षय हो जाने से अनन्त-सुख प्रकट हो जाता है। आत्मा अनन्त शक्ति का पुञ्ज है इसीलिए उसके अनन्त गुण सदा व्यवस्थित रहते हैं। संसारी अवस्था में अन्तरायकर्म का उदय रहने से आत्मा की अनन्तशक्ति प्रकट नहीं हो पाती। कुछ अंशों में क्षयोपशम हुआ तो

अल्पशक्ति प्रकट हो जाती है। अन्तराय-कर्म का यह क्षयोपशम न्यूनाधिक रहता है इसलिए उसके द्वारा प्रकट होनी वाली शक्ति भी न्यूनाधिक रहती है। सिद्धावस्था में अन्तरायकर्म का क्षय हो जाता है अतः अनन्तशक्ति—अनन्तबल प्रकट हो जाता है। यद्यपि अन्तराय कर्म के दानान्तराय, लाभान्तराय आदि भेदों के क्षय से क्षायिक दान आदि गुण भी प्रकट होते हैं परन्तु उनका कार्य अरहन्तअवस्था में ही प्रकट रहता है शरीरनामकर्म—का साथ न रहने से सिद्धावस्था मे उनका कार्य व्यक्त नहीं हो पाता, अतः एक वीर्यगुण का ही मुख्यता से उल्लेख किया है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं और आत्मा के अनुजीवी-गुणों का घात करते हैं। बारहवे गुणस्थान के अन्त तक इन सब का घात हो चुकता है और उसके फलस्वरूप अनन्त चतुष्टय अरहन्त अवस्था में ही प्रकट हो जाते है। ये अनन्त चतुष्टय सिद्धावस्था में भी ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। आयुकर्म के निमित्त से संसारी जीव का जन्म-मरण होता है। जब तक आयु विद्यमान रही तब तक जीव पूर्वशरीर में विद्यमान रहता है और आयु पूर्ण हुई कि नवीन आयु का उदय होने से नवीन शरीर में उत्पन्न हो जाता है। इस आयुकर्म के कारण ही इसजीव को एक श्वास में अठारहबार जन्म मरण करना पड़ता है। सिद्धावस्था में इसका अभाव हो जाता है अतः सिद्धजीव जन्म मरण के दुःख से बच जाते हैं। शरीर की रचना नामकर्म के निमित्तसे होती है। शरीर के कारण ही संसारी जीव मूर्तिक कहलाता

है परन्तु सिद्धावस्था में नामकर्म का अभाव हो जाने से शरीर की रचना नहीं होती, अतः जीव का अमूर्त्तत्व गुण विकसित हो जाता है। गोत्रकर्म के कारण संसारी जीव कभी उच्च कुल में और कभी नीच कुल में उत्पन्न होता है। साथ ही दर्शन-मोह का उदय हुआ तो यह जीव अपने आपको उच्च अथवा नीच समझने लगता है। परन्तु सिद्धावस्था में गोत्रकर्म का क्षय हो जाता है अतः सिद्धात्मा ऊँच नीच के व्यवहार से दूर हो जाते है। वेदनीयकर्म के उदय से यह जीव इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट विषयों में सुख-दुःख का अनुभव किया करता है परन्तु सिद्धावस्था मे उसका अभाव हो जाता है अतः इन्द्रिय जन्य सुख-दुःख के अनुभव से सिद्ध परमेष्ठी दूर हो जाते हैं। आयु, नाम, गोत्र, और वेदनीय ये चार अघातिया कर्म हैं और आत्मा के अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व अगुरुलघुत्व तथा अव्यावाधत्व नामक प्रतिजीवी गुणों का घात करते हैं। सिद्धावस्था में इनका अभाव हो जाने से उक्त गुण प्रकट हो जाते हैं।

यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धावस्था में अनेक आत्मगुण विद्यमान रहते है उनमें आठगुण मुख्य हैं जो कि आठ कर्मों के अभाव में प्रकट होते हैं। जैनसिद्धान्त में वैशेषिक अथवा नैयायिक के समान गुणाभाव को मोक्ष नही माना है। जैनसिद्धान्त तुच्छाभाव के सिद्धान्त को स्वीकृत नहीं करता। मुक्तावस्था में क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन आदिगुणों का अभाव होता है इसका अर्थ यह है कि मुक्त जीवों के ज्ञान दर्शनादि गुणों की क्षायोपशमिक पर्याय नष्ट हो गई, सर्वथा ज्ञान

दर्शनादि नष्ट हो गये—यह अर्थ नहीं है। क्योंकि उन्हीं ज्ञान; दर्शनादि गुणों की क्षायिक पर्याय विद्यमान रहती हैं ॥३८॥

नन्वनन्तचतुष्टयात्मकत्वमात्मनो मोक्षेऽसिद्धं बुद्ध्यादिविशेषगुणशून्यस्यात्ममात्रस्य मुक्तत्वाभिधानात्। यत्र बुद्ध्यादिविशेषगुणसद्भावो न तत्र मुक्तत्वं यथा संसारावस्थायाम्। मुक्तत्वं च मुक्तौ तस्माद् बुद्ध्यादिविशेषगुणरहितम्। न च गुणगुणिनोस्तादात्म्याद्गुणाभावाद्गुणिनोऽप्यभाव इत्यभिधातव्यं तत्तादात्म्यस्य प्रत्यक्षानुमानबाधितत्वम्। तथाह्ययं गुण एव गुणीतिप्रत्यक्षबुद्धौ भेदप्रतिभासनात्प्रत्यक्षबाधनम्। तथानुमानबाधनं च गुणगुणिनावत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रत्ययवेद्यत्वाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्च। ययोर्भिन्नप्रत्ययवेद्यत्वं विरुद्धधर्माध्यासत्वं वा तयोर्भेदो यथा घटपटयोर्जलानलयोर्वा। भिन्नप्रत्ययवेद्यत्वं विरुद्धधर्माध्यासो वा नयोस्तस्माभिन्नाविति ततोऽनन्तज्ञानादि स्वभावत्वं तत्रासिद्धमेवेति ब्रुवाणं वैशेषिकं निराकुर्वाणा यथावद्गुणगुणिभावविचारप्रवणास्तत्स्वरुचिविनेयजनवनेक्षोन्मेषतरुणतरणयः सूरयो रंरणन्ति दृष्टीत्यादि—

[1]दृष्टिज्ञाने गुणौ द्वाविह विनिगदितावात्मनि प्राप्ततत्त्वै—
स्तावेव प्राप्तवन्तौ विविधविधितयोत्कर्षभावाद्बहुत्वम्।
वर्गोऽन्तर्भावमत्र प्रकृतगुणयुगे याति कश्चिन्न वर्गः
सौक्ष्म्यश्रद्धावगाहागुरुलघुगुणताबाध्यताद्यो[2]ऽविरोधः ॥३९॥

विनिगदितौ कथितौ। कौ ? गुणौ गुणविशेषौ। के ? दृष्टिज्ञाने, दर्शनज्ञाने। किंभूतौ ? द्वौ द्विसंख्यौ। क्व ? इह जगति। कस्मिन् ? आत्मनि जन्तौ। कैः ? प्राप्ततत्त्वैर्निर्णीततत्त्वैः। ननु भवतु नामात्मनि तद्गुणसद्भावः परमनयोरत्यन्तभेदात्तादात्म्यासिद्धेस्तन्मयत्वं तत्रासिद्धमिति चेन्न, भिन्नप्रत्ययवेद्यत्वं भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वमुच्यते तच्चात्मनानैकान्तिकं तस्य स्वपरप्रत्यक्षानुमानप्रमाणग्राह्यत्वेऽपि भेदाप्रतीतेः। अथ विरु-

---

१. दृष्टिर्ज्ञानं त० २. ताद्याविरोधः त०।

द्धधर्माध्यासेन तयोर्भेदः साध्यते ? तदा कथंचिद् विरुद्धधर्माध्यासो हेतुः सर्वथा वा। यदि वा कथञ्चिदेवातस्तयोर्भेदः सिद्धयेत्तेनैवास्यविनाभाव-सिद्धेर्नपुनः सर्वथा तद्विपर्ययात्। तथा च साधनस्य विरुद्धत्वं साध्यं विषयं यस्साधनात्सिद्धसाधनं चास्माकं कथंचित्तद्भेदस्येष्टत्वात्। सर्वथा तद्भे-दसाधने तु कालात्ययापदिष्टत्वं प्रत्यक्षं बाधितकर्मनिदशानन्तरं प्रयुक्तत्वा-दनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादिवत्। तस्मान्नास्माद्धेतुद्वयात्सर्वथाभेदः सिध्यति। किञ्च गुणगुणिनौ नात्यन्तं भिन्नौ गुणगुणिभावात्। यावत्यन्तं भिन्नौ न तयोर्गुणगुणिभावो यथा सह्यविन्ध्ययोर्गुणगुणिभावश्चानयोस्त-स्मान्नात्यन्तं भिन्नाविति। ततो नानयोः सर्वथा भेदो नाप्यभेदः कथञ्चि-देव तयोस्तत्सिद्धेः। कथमभेदः कथं वा भेद इति ? ज्ञानात्मनाऽभेदो ज्ञानमेवाभेदो ज्ञानात्मनोः संज्ञासंख्यायारूपतया तु भेदः। इदं ज्ञानमयमा-त्मेति संज्ञयाभेदः। ज्ञानात्मनाविति संख्याया भेदकथनम्। तदुक्तं श्रीसमन्त-भद्रस्वामिभिः—

'संज्ञासंख्याविभेदाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादि भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा'॥

तथा ज्ञानात्मनोर्भेदोऽप्युक्तः—

'ज्ञानादर्थान्तरं नात्मा तस्माज्ज्ञानं न चापिनः।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कथ्यते॥'

तथा दृग्ज्ञानगुणात्मकत्वं न तत्रासिद्धं सिद्धे च प्रधानगुणद्वये मुक्ता-त्मनि तदेवानेकगुणीभवतीत्युदीरयन्तः प्राहुः। प्राप्तवन्तौ गतौ। किम् ? बहुत्वं नानात्वम्। कौ ? तावेव दृष्टिज्ञानगुणावेव। कस्मात् ? उत्कर्ष-भावात् परमप्रकर्षप्राप्तेः। कया ? विविधविधितया नानाकार्यरूपतया। याति गच्छति। कम् ? अन्तर्भावमन्तर्भवनम् प्रवेशनम्। कस्मिन् ? प्रकृतगुणयुगे दर्शनज्ञानयुगले। कः ? वर्गः समूहः। किंभूतः ? सौक्ष्म्य-श्रद्धावगाहागुरुलघुगुणताबाध्यताद्यः। सूक्ष्मस्य भावः सौक्ष्म्यं द्विविध-मन्त्यमापेक्षिकञ्च। तत्रान्त्यं परमाणूनामापेक्षिकं बिल्वामलकादीनाम्।

द्विविधमपि तत्त्रासंभाव्यं सूक्ष्मत्वं मुक्तात्मन्यमूर्तत्वमेवेति । अह्याक्षायिक-सम्यक्त्वम् । अवगाहनमात्मप्रदेशव्यापित्वं तद्विःप्रकारमुत्कृष्टजघन्यभेदात् । तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुःशतानिपञ्चविंशत्युत्तराणि जघन्यमर्द्धचतुर्थारत्नयो देशो वा (देशोनाः) शून्य (अन्य) विकल्प एतस्मिन्नवगाहे सिध्यति । अगुरुलघुगुणता यत्राविस्यतूलवन्नातिलाघवं नाप्ययस्पिण्डवद्गौरवं वा सा । अबाध्यता क्षुद्दुःखादिपीड़ितत्वं बाध्यता तस्याभावोऽबाध्यता । एतासां द्वन्द्वः सा आद्या यस्यानन्तवीर्यादिः सः । ननु विरुद्धमिदम् । कथम् ? एतस्मिन् गुणद्वये सूक्ष्मादिगुणानामन्योऽन्यविरुद्धानामन्तर्भावविभावन-मितिचेन्न । एकस्याप्यनेकात्मकत्वेन प्रतीपमानत्वात् । तथाह्यात्मतत्त्व-स्यैकस्यापि संसारिदशायां सुखदुःखहर्षामर्षाद्यात्मकतायाः स्वसंवेदना-ध्यक्षेणोपलभ्यमानत्वात् । तथानुमानादप्येकस्यानेकात्मकत्वमुपलभ्यते । तथाहि मुक्तात्मानेकसम्यक्त्वादिगुणात्मकोऽनेकत्वेनोपलभ्यमानत्वात् । यदनेकत्वेनोपलभ्यमानं तदनेकं यथा मेचकमणिः । अनेकत्वेनोपलभ्य-मानत्व (श्च) मुक्तात्मा तस्मादनेकः । नचोपलम्भे विरोधोऽनुपलम्भ एव विरोधाभिधानमिति । तस्मान्न कोऽपि विरोधः । किंभूतः ? कश्चिदपि सहानवस्थानलक्षणो यथा शीतोष्णयोस्तथा न परस्परपरिहारस्थिति-लक्षणो यथा वाय्वातपयोः । तथा न वध्यघातकलक्षणो यथा नागन-कुलयोरिति । सम्यक्त्वज्ञानदर्शनानन्तवीर्याव्याबाधागुरुलघुसूक्ष्मत्वावगाह-गुणाश्रयणादष्टविकल्पैर्विकल्प्यस्तथा क्षेत्रादिभिर्द्वादशभिरनुयोगैः साध्याः प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहात् (नुग्रहतन्त्र) तत्र नयद्वयविवक्षावशात् । यथा क्षेत्रेण तावत्कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति ? प्रत्युत्पन्नग्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति । भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु संहरणं प्रति मानुषे क्षेत्रे सिद्धिः (कालेन) । कस्मिन् काले सिद्धिः ? प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकस्मिन् समये सिध्यन् सिद्धो भवति भूतप्रज्ञापन्नयापेक्षया जन्मतोऽविशेषेणोत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जातः (जात) सिध्यति । विशेषेणावसर्पिण्यां सुषमदुःषमाया अन्त्येभागे दुःषम-

सुषमायां च जातः सिध्यति नतु दुःषमायां जातो दुषमायां सिध्यति। अन्यदा नैव सिध्यति। संहरणतः सर्वस्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च सिध्यति। गत्या कस्यां गतौ (सिद्धि)? सिद्धिगतौ मनुष्यगतौ वा सिद्धिः। लिङ्गेन(केन) सिद्धिः। (अ) वेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न तु द्रव्यतः। (द्रव्यतः) पुल्लिङ्गेनैव सिद्धिः। तीर्थसिद्धिर्द्वेधा तीर्थकरेतर-विकल्पात्। इतरे द्विविधाः सति तीर्थंकरे सिद्धा असतिचेति। चारित्रेण केन सिध्यति? अव्यपदेशेनैकचतुःपञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धिः। स्व-शक्ति परोपदेश निमित्तज्ञानभेदात्प्रत्येकबुद्धबोधितविकल्पाः। ज्ञानेनैकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिः। किमन्तरम्? सिध्यतामन्तरं जघन्येन द्वौ (समयौ) उत्कर्षेणाष्टौ। अन्तरं जघन्येनैकसमय उत्कर्षेण षण्मासाः। संख्या—जघन्येनैकसमये एकः सिध्यति उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः। क्षेत्रादिभेदभिन्नानां परस्परतः संख्या (वि) शेषोऽल्पबहुत्वम्। तद्यथा प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूत पूर्वा-पेक्षया तु चिन्त्यते। क्षेत्रसिद्धा द्विविधा जन्मतः संहरणतश्च। तत्राल्पाः संहरणसिद्धाः। जन्मसिद्धाः संख्येयगुणाः। क्षेत्राणां विभागः कर्मभूमि-रकर्मभूमिः समुद्र-द्वीप-ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति। तत्र स्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः। अधोलोकसिद्धाः संख्येयगुणाः। तिर्यग्लोक सिद्धाः संख्येयगुणाः। सर्वतः स्तोकाः समुद्रसिद्धा.। द्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः।एवं तावदविशेषेण सर्वतः स्तोका लवणोदसिद्धाः। कालोदसिद्धाः संख्येयगुणाः। जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। एवं कालाद (वि) विभागेऽपि यथागममल्पबहुत्वं वेदि-तव्यमिति। धातकीखण्ड सिद्धाः संख्येय गुणाः। पुष्करार्ध सिद्धाः संख्येयगुणाः। शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षयैकत्वं सद्व्यवहारनयापेक्षयानैकत्व-मित्येकत्वानेकत्वं मुक्तात्मनि न विरुद्ध मित्यवधारितवृत्तसंहत्यर्थः ॥३६॥

इस प्रकार विस्तार से सिद्ध जीवों के गुणों का उल्लेख कर अब संक्षेप से उनका उल्लेख करते हैं

१. अवगाहनापेक्षया पूर्वमुक्तमत्रैव टीकायाम्

वस्तु-तत्व का निर्णय करने वाले ऋषियों ने जीव में ज्ञान और दर्शन ये ही दो गुण मुख्य रूप से कहे हैं। नाना प्रकार के उत्कर्ष को पाकर ये ही अनेकरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। सूक्ष्मत्व, सम्यक्त्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व आदि गुण इन्हीं दो प्रकृत गुणों—ज्ञानदर्शन में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इनके सिवाय अन्य गुणों का कोई भी समूह आत्मा में नही है।

विशेषार्थ—यद्यपि आत्मा में अनेक गुण विद्यमान है परन्तु उनमें ज्ञान और दर्शन ये ही दो गुण मुख्य हैं अन्य समस्त गुण इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते है यही कारण है कि आगम में जीव का लक्षण ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ही बतलाया है। स्वपरावभासी होने से ज्ञान और दर्शन गुण को मुख्य गुण माना है। ज्ञानगुण का विपरीताभिनिवेश से रहित जो परिणमन है वही श्रद्धा कहलाती है। जीव के असंख्यात प्रदेशों में विद्यमान ज्ञानगुण की जो स्वरूपावस्थिति है वही अनन्त वीर्य है। ज्ञान गुण की जो बहिरिन्द्रियावेद्यत्व अवस्था है वही सूक्ष्मत्व गुण है। ज्ञान गुण की जो एक रूपता है वही अवगाहनत्व है, उच्च-नीचता के व्यवहार से रहित ज्ञान गुण की जो दशा है वही अगुरुलघुत्व है, विषय जन्य सुख दुःखानुभव से रहित ज्ञान-गुण की जो परिणति है वही अव्याबाधत्व गुण है। इस प्रकार ज्ञान दर्शन के सिवाय जिन अन्यगुणों का वर्णन किया जाता है वे सब ज्ञान दर्शन के भीतर ही अन्तर्भूत हो जाते हैं।

ज्ञान-दर्शन गुण है और आत्मा गुणी है। इनमें प्रदेश भेद नही है इसलिये ज्ञान दर्शन तथा आत्मा में अभेद है। परन्तु आत्मा गुणी है ज्ञान-दर्शन गुण है, इस प्रकार संज्ञा संख्या आदि की विभिन्नता से भेद है। स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेकर जहाँ जैसी विवक्षा है वहाँ भेद अभेद की वैसी योजना कर लेनी चाहिये। गुण और गुणी सर्वथा भिन्न ही रहते हैं .. ऐसा नैयायिक मानते हैं; परन्तु कथचित् भेद और कथचित् अभेद मानते हैं।

इस श्लोक की संस्कृत टीका में टीकाकार ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ का आश्रय लेकर क्षेत्र काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र प्रयेत्क बुद्ध बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, संख्या और अल्प बहुत्व रूप अनुयोगों के द्वारा सिद्धपरमेष्ठी में विशेषता का वर्णन किया है। इसका यद्यपि मूल पद्य के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तथापि ज्ञान वृद्धि के लिये यहाँ भी लिखते हैं

प्रश्न—क्षेत्र की अपेक्षा किस क्षेत्र में जीव सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—प्रत्युत्पन्न ग्राहीनयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्र में, अपने आत्मप्रदेश में अथवा आकाश प्रदेश में और भूतग्राहीनयकी अपेक्षा जन्म के पांच भरत, पाँच, ऐरावत, और पांच विदेह इन पन्द्रह कर्म भूमियों में तथा संहरण के प्रति अढ़ाई द्वीप में सर्वत्र सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—काल की अपेक्षा किस काल में सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा एक समय में और भूत ग्राही नय की अपेक्षा सामान्यतया उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी

में उत्पन्न हुए जीव सिद्ध होते हैं। विशेषतया अवसर्पिणी के सुषम-दुःषम काल के अन्तिम भाग में तथा दुषम-सुषम काल में उत्पन्न हुए जीव सिद्ध होते हैं। दुःषमकाल में उत्पन्न हुए जीव सिद्ध नहीं होते यह जन्म की अपेक्षा कथन है। संहरण की अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सभी कालों में सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—गति की अपेक्षा किस गति में सिद्ध होते हैं। ?

उत्तर—सिद्ध गति अथवा मनुष्य गति में सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—लिङ्ग की अपेक्षा किस लिङ्ग से सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—किसी भी वेद से नहीं अथवा तीनों वेदों से। यह कथन भाव वेद की अपेक्षा है, द्रव्य वेद की अपेक्षा नहीं। द्रव्य वेद की अपेक्षा मात्र पुवेद से ही सिद्ध होते हैं—

प्रश्न—तीर्थ की अपेक्षा किस तीर्थ से सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—तीर्थ-सिद्धि का व्याख्यान दो प्रकार का है। तीर्थंकर होकर सिद्ध होना और सामान्य मनुष्य होकर सिद्ध होना। जो मनुष्य तीर्थंकर होकर सिद्ध होते हैं वे तीर्थ सिद्ध कहलाते हैं और जो सामान्य मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं वे इतर सिद्ध कहलाते है। इतर सिद्धों में कोई जीव तीर्थंकर के रहते हुए सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थंकर के मोक्ष चले जाने के बाद उनके तीर्थ में सिद्ध होते है।

प्रश्न—चारित्र की अपेक्षा किस चारित्र से सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—प्रत्युत्पन्नग्राही नय की अपेक्षा एक यथाख्यात-चारित्र से और भूतग्राहीनय की अपेक्षा कोई सामायिक

छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय तथा यथाख्यात इन चार चारित्रों से तथा कोई परिहारविशुद्धि रूप पांच चारित्रों से सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—प्रत्येकबुद्ध का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो जीव पूर्व भव के संस्कार वश किसी के उपदेश के बिना स्वयमेव दीक्षित होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते है।

प्रश्न—बोधित-बुद्ध का क्या अर्थ है ?

उत्तर—पूर्वभव का सस्कार न होने से जो वर्तमान पर्याय मे ही किसी का उपदेश पाकर विरक्त हो मोक्ष प्राप्त करते हैं वे बोधित-बुद्ध कहलाते हैं।

प्रश्न—ज्ञान की अपेक्षा किस ज्ञान से सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—प्रत्युत्पन्नग्राही नय की अपेक्षा एक केवलज्ञान से और भूतप्रज्ञापन-नय की अपेक्षा दो, तीन अथवा चार ज्ञान से सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—अन्तर कितना है ?

उत्तर—कम से कम एक समय और अधिक से अधिक ६ माह।

प्रश्न—एक समय में कितने जीव सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—कम से कम एक और अधिक से अधिक एक सौ आठ।

प्रश्न—अल्प बहुत्व का क्या मतलब है

उत्तर—क्षेत्रादि के भेद से भिन्नता को प्राप्त सिद्ध जीवों

में परस्पर की संख्या में जो विशेषता है उसे अल्प बहुत्व कहते हैं। वह इस प्रकार है—

प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सब जीव सिद्धि क्षेत्र में ही सिद्ध होते हैं अतः उनमें अल्प-बहुत्व नहीं है परन्तु भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा विचार करते है। क्षेत्र सिद्ध दो प्रकार के हैं जन्म सिद्ध और संहरण सिद्ध। इनमें संहरण सिद्ध अल्प हैं और जन्म-सिद्ध उनमें संख्यात गुणित है। कर्मभूमि, अकर्मभूमि समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्व अधः और तिर्यक् में सब क्षेत्रों के विभाग हैं। इनमें ऊर्ध्व लोक से सिद्ध होने वाले सिद्ध जीव अल्प हैं, अधोलोक सिद्ध उनसे संख्यात गुणित हैं, तिर्यक् लोक सिद्ध उनसे भी संख्यात गुणित हैं। समुद्र सिद्ध सबसे अल्प हैं द्वीप सिद्ध उनमें संख्यात गुणित है, लवणोद सिद्ध सबसे थोड़े हैं। कालोद सिद्ध उनसे संख्यात गुणित हैं। जम्बूद्वीप सिद्ध उनसे संख्यात गुणित हैं। धातकीखण्ड सिद्ध उनसे संख्यात गुणित हैं और पुष्करार्ध सिद्ध उनसे भी संख्यात गुणित हैं इसी प्रकार कालादि अनुयोगों से भी सिद्ध जीवों का अल्प-बहुत्व आगम से जानना चाहिए ॥३९॥

ननु केयं मुक्तिः ? स्वात्मरूपोपलब्धिः 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः'—रित्यभिधानात्। सा च कृतस्नकर्म विश्लेषात्सर्व सद्भाविनां सम्मतेति सकलास्तिकसौवस्तिकसौवस्तिकानां मुक्तिस्वरूप विवादाभावं दर्शयति। अथ केषाञ्चिद्बुद्धादीनामप्यात्मस्वरूपे कर्मस्वरूपे च विवादात्स च प्रागेव निरस्तोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयस्य सिद्धत्वस्य चात्मस्वरूपस्य च प्रमाणसिद्धत्वात्। नह्यचेतनत्वमात्मनः स्वरूपं तस्य ज्ञान समवायित्वविरोधादाकाशादिवत्। प्रतीयते च ज्ञानमात्मनि ततस्तस्य नाचैतन्यस्वरूपम्।

चैतन्यमात्रमेवात्मनः स्वरूपमित्यप्यनेनापास्तं ज्ञानस्वभावरहितस्य चेतनत्वविरोधादनङ्गनादिवत्। प्रभास्वरमिदं चित्तमिति स्वसंवेदनमात्रं चित्तस्य स्वरूपं वदन्नपि सकलार्थविषयज्ञानसाधनान्निरस्तः स्वसंविन्मात्र-वेदनेन सर्वार्थसाक्षात्करणविरोधात्तदेवंप्रवादिपरिकल्पितात्मस्वरूपस्य प्रमाणबाधितत्वादनेकान्तवादिनिर्णीतमेवानन्तचतुष्टयादिस्वरूपमात्मनो व्यवस्थां प्राप्नतीति तस्मात्तस्यैव लाभो मुक्तिः सिद्धयेन्नपुनरात्महानि-रिति बुद्धेर्नहिप्रमाणसिद्धत्वात्। तथा च कर्मस्वरूपे विवादः कर्मवादिनां कल्पनाभेदात् स च पूर्वमेव निरस्त इत्यर्थोऽलं विवादेनेत्यावेदयन्तोऽध्यात्म-रुचिकर्मन्दिवृन्दकुमुदकदम्बकमोदसोमदेवाः सोमदेवाः सूरयो मुक्तावित्याद्यु-दितिवंतः—

मुक्तौ नापूर्वमाप्यं किमपि सुकृतिभिश्चेतितामात्मरूप—
प्राप्तिं प्राहुः प्रणीताखिलनिगमनयाः केवलज्ञानभाजः।
सूक्ष्मा तेषां जिनेन्द्रोदितमतमहितज्ञानसाम्राज्यसंपत्—
संपन्नाः सर्वसत्वोत्पलविपिनमुदे सोमदेवाश्च साक्षात् ॥४०॥

॥ इति सोमदेवाचार्यप्रणीताध्यात्मतरङ्गिणी समाप्ता ॥

नाप्यं न प्राप्यम्। किम्? किमप्यनुभूयमानम्। किं भूतम्? अपूर्वम्। नयप्रमाणसंवादमस्पृशन्तीभिर्वाणीभिः प्रवादितीर्थंकरम्मन्योपकल्पितं 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। तच्च ज्ञेयाकारपरिच्छेदपराङ्मुखम्।' तत्स-दप्यसदेव निराकारत्वादिति तथा 'बुद्ध्यादिवैशेषिक गुणोच्छेदः पुरुषस्य मुक्तिरूप' मिति च। तदपि परिकल्पनमसदेव। विशेषलक्षण शून्यस्यावस्तु-त्वात्। तथा प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणमिति च। तस्य खरविषाण (वत्) कल्पना तैरेवाहत्य निरूपितेत्येवमादि। न च (तत्साधु) कुतः। न हि प्रेक्षापूर्वकारी निजगुणहान्यर्थं स्वविनाशार्थं वा यततेऽप्रेक्षापूर्वकारि-तापत्तेरिति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे निर्णीतप्रायम्। कस्याम्? मुक्तौ सिद्धौ। कैः सुकृतिभिर्लोकातिशायिपरमपुण्यनायकैः। यदिह्य लवेत-

रूपिणी न सदृश्येवेति प्राहुः प्ररूपयन्ति। काम् ? तां मुक्तिम्। काम् ? आत्मरूपप्राप्तिम् निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्काऽकायाचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणाव्याबाधसुखोत्पत्तिका वस्यान्तरजन्तुस्वभावावाप्तिमित्यर्थः। के ? केवलज्ञानभाजः त्रिभुवनाभुवनभूतभवद्भविष्यत्कालभवत्प्रतिक्षणभावाभावध्रुवस्वभावचेतनाचेतनभावावभासिकैवल्यावबोधात्मका इत्यर्थः। किंभूताः ? प्रणीताखिलनिगमनयाः प्रणीताः कथिता अखिलाः सकला निगम्यन्ते निश्चीयन्ते जीवाजीवादितत्त्वानि यत्र स निगमोऽर्थग्रहेत्यादिना च परमागम इत्यर्थः। स च नीयते प्राप्यते सत्त्वासत्त्वाव्यापित्वाव्यापित्वद्रव्यत्वाद्रव्यत्वादिवस्तुधर्मो यैस्ते नया द्विविधा द्रव्यनयाः पर्यायनयाश्च। तत्र द्रव्यनयस्त्रिविधिः पर्यायनयश्चतुःप्रकारः यस्तैः प्रणीतः। कथंचिदपौरुषेयपौरुषेयद्रव्यपर्यायात्मकं स्यादस्तीत्यादि सप्तभङ्गीभङ्गुरजीवादिभावाभिधायकपरमागमन्योन्यापेक्ष नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र शब्दसमभिरूढेवंभूता नया इत्यर्थः। भवति। का ? सा सूक्ष्माऽमूर्ता क्षेत्रचरानन्तवीर्यवक्त्रा दृग्ज्ञाननेत्राऽगुरुलघुगुणाभोगोत्तुङ्गस्तनयुग्माऽव्याबाधोरुगंभीरनाभिमध्याऽग्रावगाहोरुवराङ्गाऽनङ्गानङ्गनामुक्तिरित्यर्थः केषाम् ? तेषाम्। ते के ? ये जिनेन्द्रोदितमतमहितज्ञानसाम्राज्यसंपत्संपन्नाः नानोग्रभवदुग्र व्यसन प्रापणकारणान् कर्मारातीन् जयन्तीतिजिनास्तेषामिन्द्रः स्वामी तेनोदितं कथितं च तन्मतं द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वव्यवस्थितानेकशास्त्रं तत्र महितं पूजितं च तत् ज्ञानं तस्य साम्राज्यं सम्राट्त्वं तस्य संपल्लक्ष्मीः सा संपन्ना प्राप्ता यैस्ते जिननाथाभिहितसमयसाराद्यध्यात्मशास्त्रार्चितबोधसार्वभौमपद्मेश्वराय इत्यर्थः। पुनः किं भूताः ? सर्वसत्वोत्पलविपिनमुदे सोमदेवाश्च ये। सर्वे समस्ताः सत्त्वा एकेन्द्रियादिप्राणिनस्त एवोत्पलवनं कैरवकक्षं तस्य मुद्धर्षस्तस्यै मुदे। सोमदेवाः। अथवा यशस्तिलकाभिधानचम्पूकथाकौस्तुभरत्नोत्पत्तिरत्नाकरैकान्तवादिवादिखद्योतचयप - राभवादित्यसद्योऽनवद्यगद्यपद्यरचनाश्चर्यितसोमदेवाः पण्डितसोमदेवा अभिधीयन्ते। निखिलजन्तुजातेन्दीवरानन्दकौमुदीदयिता एवेत्यर्थः। कथम् ?

साक्षान्नूनं निश्चितमित्यर्थः। ननु च नास्तिकान् प्रति मुक्तिस्वरूपेऽपि विवाद इति चेन्न तेषामत्रानधिकारात्। येषां प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं नास्तिकानां (ते) कथं मुक्तिनिराकरणाय प्रमाणान्तरं वदेयुः। स्वेष्टहानिप्रसङ्गाच्च। पराभ्युपगतेन प्रमाणेन मुक्त्यभावमाचक्षाणा मुक्तिसद्भावमपि किन्नाचक्षते। न चेदसत्प्रलापिनः परपर्यनुयोगपरतया। प्रलापमात्रं तु महात्मनां नावधेयम्। तेषामुपेक्षार्हत्त्वतो निर्वाधैवानन्तबोधाद्यात्मिका मुक्तिरभ्युपगन्तव्या। मूर्तद्रव्यभावागमशुद्धाशुद्धनयप्ररूपणप्रवणनिखिलावबोधबन्धुरसर्वज्ञोपविष्ट जिनैतिह्यानुगतदयादमत्यागगाङ्गेयाभरणभूषितो समाङ्गकण्ठकरशाखामलशीलोज्ज्वलदुकूलविराजितनितम्बबिम्बसकलदिग्गमनसिचयोत्तरीयावृताखिलविग्रहविग्रहविनिर्मुक्तमानस द्वाविंशति परीषहचमूरीचयोच्चाटनचित्रभानुप्रभाभेदरत्नत्रयहेतिविध्वस्तसकलकर्म्मारातिसन्ततिनरोत्तमानामेव मुक्ति कामिन्यवश्यं वश्या भवतीति व्याख्यात वृत्तसंकल्पितार्थः ॥४०॥

आगे मुक्ति का स्वरूप निरूपण करते हुए उसकी विशेषता बतलाते हैं—

'मुक्ति में प्राप्त करने योग्य कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। समस्त आगम तथा नयों का प्रणयन करने वाले केवली भगवान आत्मा की उस परिणति को मुक्ति कहते हैं जिसका कि भाग्यशाली मनुष्य निरन्तर चिन्तवन करते रहते हैं। वह अत्यन्त सूक्ष्म अथवा अमूर्तिरूपमुक्ति उन जीवों को प्राप्त होती है जो कि जिनेन्द्र भगवान के द्वारा निरूपित मत से पूजित केवलज्ञानरूप साम्राज्य की सम्पत्ति से सम्पन्न हैं तथा समस्त जीव रूपी कुमुद वन को विकसित करने के लिए जो साक्षात् चन्द्रमा स्वरूप हैं'।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान की न्यूनता तथा स्वमतस्थापन के पक्ष व्यामोह से हुण्डावसर्पिणी काल में अनेक मत मतान्तर प्रचलित हो जाते हैं। यदि उन मत-मतान्तरों का वर्गीकरण किया जाय तो प्रधानता से दो वर्ग ठहरते हैं। प्रथम आस्तिक्य वादियों का जिन्होंने कि स्वतन्त्र सत्ता मानकर इहलोक तथा परलोक की व्यवस्था स्वीकृत की है और दूसरा अनास्तिक्य वादियों का जिन्होंने कि शरीर से भिन्न जीव की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकृत कर पर लोक की व्यवस्था स्वीकृत नही की है। अनास्तिक्य वादियों में चार्वाक मत का नाम प्रसिद्ध है इस वाद मे जब जीव की ही सत्ता नही मानी गई है तब स्वर्ग मोक्ष की चर्चा कहां से आवेगी, आस्तिक्य वादियों में सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध आदि मत प्रसिद्ध हैं और उनमें मुक्ति की चर्चा की गई है। परन्तु स्याद्वाद की कसौटी पर कसने पर उनके द्वारा निरूपित मुक्तिस्वरूपरूप सुवर्ण खरा नही उतरता। सांख्य कहते हैं कि चैतन्य पुरुष का स्वरूप है परन्तु वह ज्ञेयाकार परिच्छेद से विमुख है'। उनका यह मुक्ति स्वरूप सत् होने पर भी असत् ठहरता है। चैतन्य पुरुष का स्वरूप है यह अंश तो ठोक है परन्तु वह पदार्थ के आकार को ग्रहण नहीं करता यह अंश ठीक नहीं बैठता। पदार्थ को जानना आत्मा का स्वरूप है और वह मुक्तावस्था में भी विद्यमान रहता है। वैशेषिकों ने बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार आदि विशिष्ट गुणों के उच्छेद को मुक्ति माना है। यह कल्पना भी ठीक नहीं बैठती; क्योंकि किसी भी पदार्थ

के विशिष्ट अर्थात् असाधारण गुणों के नष्ट होनेपर उस पदार्थ का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। बौद्धों ने कल्पना की है कि जिस प्रकार दीपक बुझने पर वहीं का वहीं शांत हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी मोक्ष प्राप्त होने पर वहीं का वहीं शांत हो जाता है—उच्छिन्न हो जाता है—उसकी सन्तति आगे नहीं जाती। बौद्धों की यह कल्पना खरविषाण की कल्पना के समान निःसार कल्पना है। ऐसा कोई बुद्धिमान् नहीं, जो अपने गुणों की हानि अथवा स्वकीय सत्ता का उच्छेद करने के लिये प्रयत्न करेगा। इत्यादि रूप से अनेक मत-मतान्तरों की चर्चा तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार में की गई है। जैन मत में स्वात्मोपलब्धि को मोक्ष का स्वरूप मानागया है। मोक्ष में कोई नवीन वस्तु उत्पन्न नहीं हो जाती। किन्तु द्रव्य-कर्म और नोकर्म का सम्बन्ध हट जाने से आत्मा की स्वाभाविक दशा प्रकट हो जाती है। जीव की यह स्वाभाविक दशा अनादि काल से कर्मावृत हो रही है—ज्ञानावर्णादि द्रव्यकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म और औदारिक शरीरादि नोकर्म से आवृत हो रही है। इन समस्त प्रकार के आवरणों का अभाव होने पर जीव की जो अवस्था प्रकट होती है वह आत्यन्तिक होती है, उसका कभी नाश नही होता और अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों से प्रकाशमान रहती है। इस मुक्तिका संस्कृत टीकाकार ने अपनी काव्यमय भाषा में वर्णन किया है। वे कहते हैं कि मुक्ति मानो एक अंगना है, अनन्त वीर्य उसका मुख है, दर्शन उसके दोनों नेत्र है, अगुरुत्व-अलघुत्व गुण

उसके स्तनयुगल हैं, अव्याबाध गुण उसकी गम्भीर नाभि है और अवगाहना गुण उसके उरु हैं। यह मुक्ति अंगना सूक्ष्म है—मूर्ति रहित है। इस प्रकार पुण्यशाली निकट-भव्य जीव जिसका निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं आत्मा की वह सर्व विशुद्ध आत्यन्तिक अवस्था ही मुक्ति कहलाती है। यह मुक्ति द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा सदा विद्यमान रहती है परन्तु पर्या-यार्थिक-नय की अपेक्षा संवर निर्जरा पूर्वक सर्व कर्म विप्रमोक्ष होने पर प्रकट होती है। यह मुक्ति उन्हीं जीवों को सुलभ है जो सर्वज्ञ वीतराग—जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित आर्हत मत से प्रशंसित-पूजित सम्यग्ज्ञान के साम्राज्य को प्राप्त कर चुकते हैं—स्वयं केवलज्ञान हो चुका है तथा समस्त जीव रूप कुमुद वन को जो चन्द्रमा की तरह विकसित-हर्षित करते है। अपाय-विचय धर्म्मध्यान के समय संचित भाषा-वर्गणा के परमाणुओं को दिव्य-ध्वनि रूप परिणत कर प्राणीमात्र के कल्याण का उपदेश देते हैं। मोक्ष-प्राप्ति का यह क्रम आगम में भी लिखा है। सर्व प्रथम मोह का और फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है। केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद कम से कम अन्तर्मुहूर्त में और अधिक से अधिक देशोनकोटिवर्ष के बाद संवर निर्जरा पूर्वक समस्त कर्मों का विप्रमोक्ष हो जाने पर मोक्ष होता है। मुक्ति की साक्षात् प्राप्ति केवलज्ञानी को ही होती हैं और परम्परा से मति-श्रुत, मति-श्रुत अवधि, मति-श्रुत मन: पर्यय अथवा मति-श्रुतावधि मन: पर्यय ज्ञान के धारक जीवों के भी होती है।

इस अध्यात्मतरङ्गिणि ग्रन्थ के रचयिता श्री सोमदेवाचार्य हैं। उन्होंने श्लेषालंकार के द्वारा अपना सोमदेव नाम भी ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में प्रकट कर दिया है ॥८०॥

टीकाकर्तुः प्रशस्तिः

श्रीसोमदेवमुनिनोदितयोगमार्गो व्याख्यात एव हि मया स्वमतेर्बलेन ।
संशोध्य शुद्धधिषणैर्हृदये निधेयो योगीश्वरत्वमचिराय समाप्तुकामैः ॥१॥

(श्री) सोमसेनप्रतिबोधनार्थं धर्माभिधानोच्चयशः स्थिरार्थाः ।
गूढार्थ संदेहहरा प्रशस्ता टीका कृताध्यात्मतरङ्गिणीयम् ॥२॥

जिनेशसिद्धाः शिवभावभावाः सुसूरयो देशकसाधुनाथाः ।
अनाथनाथा मथितोरुदोषा भवन्तु ते शाश्वतशर्मदा नः ॥३॥

यच्छच्चन्द्रमरीचिवीचिरुचिरे यच्चारुरोचिश्चये
नम्राङ्गैः सुरनायकैः सुरुरुभे देवाब्धिमध्यैरिव ।
शुक्लध्यान सितासिशासितमहाकर्म्मारिकक्षोदयो—
देयातेऽभवसंभवां शुभतमां चन्द्रप्रभः सम्पदम् ॥४॥

त्रिदशवसतितुल्यो गुर्जरात्राभिधानो
धनकनकसमृद्धो देशनाथोऽस्ति देशः ।
असुरनरसुरामा शोभिभोगाभिरामो—
परदिगवनिनारीवक्त्रभाले ललामः ॥५॥

शश्वच्छ्रीशुभतुङ्गदेवावसतिः संपूर्णपण्यापणा—
शौण्डीर्योद्भटवीरघोर वितता श्रीमान्यखेटोपमा ।
चञ्चत्काञ्चनकुम्भकर्णविसरैर्जैनालयैर्भ्राजिता
लङ्का वास्ति विलासशालनिलयामन्दोवरीशोभिता ॥६॥

वरवटवटपल्ली तत्र विख्यातनामा
वरविबुधसुधामा देववासोरुधामा ।
शुभसुरभिसुरम्भादेवरम्भाभिरामा
सुरवसतिरिवोच्चैरप्सरोभासमाना ॥७॥

स्फूर्जद्बोधगणेभवप्रतिपतिर्वाचं यमः संयमी
जज्ञे जन्मवतां सुपोतममलं यो जन्मयादोविभोः।
जन्यो यो विजयी मनोजनृपते र्जिष्णोर्जगज्जन्मिनाम्।
श्रीमत्सागरनन्दिनामविदितः सिद्धान्तवार्धे विधुः ॥८॥

स्याद्वादसात्मकतपोवनितालला मो भव्यातिसस्यपरिवर्धननीरदाभः।
कामोरुभूरुहविकर्तनसंकुठारस्तस्माद्विलोभहननोऽजनि स्वर्णनन्दी ॥९॥

तस्माद्गौतममार्गगो गुणगणैर्गम्यो गुणिग्रामणी—
र्गीतार्थो गुरुसङ्गनागगरुड़ो गीर्वाणगीर्गोचरः।
गुप्तिग्रामसमग्रतापरिगतः प्रोग्रग्रहोद्गारको
ग्रन्थग्रन्थिविभेदको गुरुगमः श्रीपद्मनन्दी मुनिः ॥१०॥

आचार्योचितचातुरीचर्यचितश्चारित्रचञ्चुः शुचि—
श्चार्वीसंचय चित्रचित्ररचनासंचेतनेनोच्चकैः।
चित्तानन्दचमत्कृतिप्रविचरत्प्राञ्चत्प्रचेतोमतां
प्राभूच्चारुविचारणैकनिपुणः श्रीपुष्पदन्तस्ततः ॥११॥

समभवदिह चातश्चन्द्रवत्कायकान्ति—
स्तदनु विहितबोधो भव्यसत्कैरवाणाम्।
मुनिकुवलयचन्द्रः कौशिकानन्दकारी
निहततिमिरराशिश्चारुचारित्ररोचिः ॥१२॥

तस्मात्तीव्रमहातपस्तपनकृत्तेजः प्रतप्तान्तरं
कर्म्मोत्तुङ्ग तडागतारलहरीतोयं तरां शोषितम्।
रत्याभावरणे शुचौ रतिपतिर्येनोत्पतङ्गीकृतः
कीर्त्या शारदनीरदेन्दुसितया श्वेतीकृताशामुखः ॥१३॥

भवभयपरिभावी भव्यराजीवबन्धु—
र्मतमित हितवादी बुद्धिवादावनन्दी।
गुणिगणवरकीर्तिः कोविदानन्दहेतुः
समजनि जनपूज्यो वन्दिवृन्दाभिवन्द्यः ॥१४॥

आसन्नभव्यशुभसस्यविभूतिकर्त्रीं सारार्थदेशनपरां चिरमेघमालाम् ।
सार्द्रान्तरः ससमयो निखिलाशपूरस्तस्तार यद्वदिह तद्वदिमां सुटीकाम् ॥१५॥
तध्यात्माद्यर्थं संवादाध्यात्मामृततरङ्गिणीम् ।
सोमदेवध्यानविधौ गणधरकीर्तिर्व्यधात् ॥१६॥
एकादशशताकीर्णे नवाशीत्युत्तरे परे ।
संवत्सरे शुभे योगे पुष्पनक्षत्र संज्ञके ॥१७॥
चैत्रमासे सिते पक्षेऽथपञ्चम्यां रवौ दिने ।
सिद्धा सिद्धिप्रदा टीका गणभृत्कीर्तिविपश्चितः[1] ॥१८॥
निस्त्रिंशतर्जितारातिविजयश्रीविराजिनि ।
जयसिंहदेवसौराज्ये सज्जनानन्ददायिनि ॥१९॥
यावज्जैनं शासनं शासनानां जीवादीनां स्यादनेकात्मकानाम् ।
यावद्यौर्गोर्गोपति र्यावदाशाःस्थेयाट्टीका तावदेषा जगत्याम् ॥२०॥

हिन्दी टीकाकार प्रशस्ति

गल्लीलालो जन्मदाता यदीयः, पारग्रामो जन्मभूमिर्यदीया ।
पन्नालालः क्षुद्रबुद्धिः स चाहं टीकामेतां स्वल्पबुद्ध्या चकार ॥१॥
नवसप्तचतुर्युग्म-वीराब्दे चैत्रमासके ।
कृष्णपक्षे वसन्तर्तौ त्रयोदशां तिथौ तथा ॥२॥
शुक्रवाराभिधे वारे, राष्ट्रभाषामयीमिमाम् ।
टीकां चकार भूयात् सा, मुदेभव्याङ्गि सन्ततेः ॥३॥

१. पिपाश्चिता ख० ।